Chapter चौबीस

शिवजी द्वारा की गई स्तुति का गान

मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजासीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः ।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विजिताश्वः—विजिताश्व नाम का; अधिराजा—सम्राट; आसीत्—हुआ; पृथु-पुत्रः—महाराज पृथु का पुत्र; पृथु-श्रवाः—महान् कार्यों का; यवीयोभ्यः—छोटे भाइयों को; अददात्—दे दिया; काष्ठाः—विभिन्न दिशाएँ; भ्रातृभ्यः—भाइयों को; भ्रातृ-वत्सलः—भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल।.

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : महाराज पृथु का सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व, जिसकी ख्याति अपने पिता की ही तरह थी, राजा बना और उसने अपने छोटे भाइयों को पृथ्वी की विभिन्न दिशाओं पर राज्य करने का अधिकार सौंप दिया, क्योंकि वह अपने भाइयों को अत्यधिक चाहता था।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में महाराज पृथु के जीवन तथा चरित्र का वर्णन कर चुकने के बाद मैत्रेय

मुनि ने पृथु की वंश परम्परा में पुत्रों तथा पौत्रों का वर्णन प्रारम्भ किया। महाराज पृथु की मृत्यु के बाद उनका सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व इस पृथ्वी का राजा हुआ। वह अपने छोटे भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेह रखता था, अत: वह चाहता था कि वे संसार की विभिन्न दिशाओं पर शासन करें। अनादि काल से नियम है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र सामान्यत: राजा बनता है। जब पृथ्वी पर पाण्डवों का राज्य था तब राजा पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज युधिष्ठिर ही सम्राट बने थे और उनके छोटे भाई उनकी सहायता करते थे। इसी प्रकार राजा विजिताश्व के छोटे भाई विश्व की विभिन्न दिशाओं के अधीक्षक नियुक्त हुए।

हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभु: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

हर्यक्षाय—हर्यक्ष को; अदिशत्—प्रदान किया; प्राचीम्—पूर्व दिशा; धूम्रकेशाय—धूम्रकेश को; दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा; प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा; वृक-संज्ञाय—वृक नामक भाई को; तुर्याम्—उत्तर दिशा; द्रविणसे—द्रविण को; विभु:—स्वामी।

महाराज विजिताश्व ने संसार का पूर्वी भाग अपने भाई हर्यक्ष को, दक्षिणी भाग धूम्रकेश को, पश्चिमी भाग वृक को तथा उत्तरी भाग द्रविण को प्रदान किया।

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञित: ।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्धान—विलुप्त होने की; गतिम्—शक्ति; शक्रात्—इन्द्र से; लब्ध्वा—पाकर; अन्तर्धान—अन्तर्धान; संज्ञित:—नाम पड़ा; अपत्य—संतानें; त्रयम्—तीन; आधत्त—उत्पन्न कीं; शिखण्डिन्याम्—अपनी पत्नी शिखण्डिनी से; सु-सम्मतम्—सबों द्वारा अनुमत।

पूर्वकाल में महाराज विजिताश्व ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रसन्न करके उनसे अन्तर्धान की पदवी प्राप्त की थी। उनकी पत्नी का नाम शिखण्डिनी था जिससे उन्हें तीन उत्तम पुत्र हुए।

तात्पर्य : महाराज विजिताश्व अन्तर्धान नाम से विख्यात थे, जिसका अर्थ होता है "विलुप्त होना।" यह पदवी उन्हें इन्द्र से प्राप्त हुई थी। यह उस समय की बात है जब इन्द्र ने महाराज पृथु के घोड़े को यज्ञस्थल से चुरा लिया था। जब वह घोड़ा चुरा रहा था, तो औरों के लिए तो वह अदृश्य था, किन्तु महाराज पृथु के पुत्र विजिताश्व ने उसे देख लिया था। यह जानते हुए कि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा है विजिताश्व ने उस पर आक्रमण नहीं किया। इससे पता चलता है कि महाराज

विजिताश्व सही व्यक्तियों का सम्मान करते थे। यद्यपि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु विजिताश्व को ज्ञात था कि इन्द्र कोई सामान्य चोर नहीं है। चूँकि इन्द्र एक महान् शक्तिशाली देवता था और भगवान् का सेवक था, अतः विजिताश्व ने जानबूझ कर उसे क्षमा कर दिया था यद्यपि इन्द्र गलत कार्य कर रहा था। इससे इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न हुआ। देवताओं में इच्छानुसार प्रकट होने तथा छिपने की योगशक्ति पाई जाती है और चूँकि इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न था, अतः उसने उसे यह योगशक्ति प्रदान की। इस प्रकार विजिताश्व अन्तर्धान कहलाया।

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा ।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

पावकः—पावक नामक; पवमानः—पवमान नामक; च—भी; शुचिः—शुचि नामक; इति—इस प्रकार; अग्नयः—अग्निदेव; पुरा—प्राचीन काल में; वसिष्ठ—वसिष्ठ मुनि; शापात्—शाप से; उत्पन्नाः—अब उत्पन्न; पुनः—फिर से; योग-गतिम्—योगाभ्यास का पद; गताः—प्राप्त किया।

महाराज अन्तर्धान के तीनों पुत्रों के नाम थे पावक, पवमान तथा शुचि। पूर्वकाल में ये तीनों व्यक्ति अग्निदेव थे, परन्तु वसिष्ठ ऋषि के शाप से वे महाराज अन्तर्धान के पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए; फलतः वे अग्निदेवों के ही समान शक्तिमान थे और फिर से अग्निदेवों के रूप में स्थित होने के कारण उन्होंने योगशक्ति का पद प्राप्त किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४१-४३) में कहा गया है कि जो योगाभ्यास से नीचे गिरता है, वह स्वर्गलोक को जाता है और वहाँ सुख भोगकर पुनः पृथ्वी पर आता है तथा किसी धनी कुल में या पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेता है। अतः यह समझना चाहिए कि जब देवता भ्रष्ट होते हैं, तो वे पृथ्वी पर अत्यन्त धनी तथा पवित्र कुलों में जन्म लेते हैं। ऐसे परिवारों में कृष्णभक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे उन्हें वाञ्छित गन्तव्य प्राप्त होता है। महाराज अन्तर्धान के पुत्र अग्नि के अधीक्षक देवता थे, उन्होंने अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त की थी और योगबल से वे स्वर्ग को चले गये।

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत ।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अन्तर्धानः—अन्तर्धान राजा; नभस्वत्याम्—अपनी पत्नी नभस्वती से; हविर्धानम्—हविर्धान नामक; अविन्दत—प्राप्त किया; यः—जो; इन्द्रम्—राजा इन्द्र को; अश्व-हर्तारम्—जो उसके पिता का घोड़ा चुरा रहा था; विद्वान् अपि—जानते हुए भी; न जघ्निवान्—नहीं मारा।.

महाराज अन्तर्धान के नभस्वती नामक एक दूसरी पत्नी थी जिससे उन्हें हविर्धान नामक एक अन्य पुत्र की प्राप्ति हुई। चूँकि महाराज अन्तर्धान अत्यन्त उदार थे, अतः उन्होंने यज्ञ से अपने पिता के घोड़े को चुराते हुए इन्द्रदेव को मारा नहीं।

तात्पर्य : अनेक शास्त्रों तथा पुराणों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र चोरी करने तथा अपहरण करने में अत्यन्त दक्ष था। वह मालिक की अनदेख में किसी भी वस्तु को चुरा सकता था और बिना पहचान में आए किसी की पत्नी को हर सकता था। एक बार उसने अपनी अन्तर्धान कला से गौतम मुनि की पत्नी के साथ बलात्कार किया। इसी प्रकार अदृश्य होकर उसने महाराज पृथु का घोड़ा चुरा लिया। यद्यपि मानव-समाज में ऐसे कार्य कुत्सित समझे जाते हैं, किन्तु इन्द्र ऐसे कार्यों से नीच अर्थात् भ्रष्ट हुआ नहीं समझा गया। यद्यपि अन्तर्धान को पता चल गया था कि राजा इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु उसने मारा नहीं, क्योंकि वह जानता था कि कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं, अतः इसकी ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिए। *भगवद्गीता* (९.३०) में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भगवान् कहते हैं कि यदि भक्त कुत्सित कार्य भी करे तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् की अविचल भक्ति करता है। भगवान् के भक्त कभी भी जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करते, किन्तु कभी-कभी पुरानी आदतों के कारण वे कुछ घृणित कार्य कर बैठते हैं। ऐसे कार्यों को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए, क्योंकि भगवान् के भक्त चाहे इस लोक में हों या स्वर्गलोक में, अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। यदि किसी कारणवश वे कोई घृणित कार्य कर बैठते हैं, तो इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए अपितु उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् ।
मन्यमानो दीर्घसत्त्रव्याजेन विससर्ज ह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञाम्—राजाओं की; वृत्तिम्—जीविका का साधन; कर—लगान, टैक्स; आदान—वसूली; दण्ड—दण्ड; शुल्क—अर्थ-दण्ड; आदि—इत्यादि.; दारुणाम्—अत्यन्त कष्टप्रद; मन्यमानः—मानते हुए; दीर्घ—लम्बा; सत्र—यज्ञ; व्याजेन—बहाने से; विससर्ज—त्याग दिया; ह—प्राचीन काल में।.

जब भी परम शक्तिशाली अन्तर्धान को प्रजा से कर लेना, प्रजा को दण्ड देना या उस पर कठोर जुर्माना लगाना होता तो ऐसा करने को उनका जी नहीं चाहता था। फलतः उन्होंने ऐसे कार्यों से मुख मोड़ लिया और वे विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने में व्यस्त रहने लगे।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट है कि कभी-कभी राजा होने के नाते राजा को ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जो वांछनीय नहीं होते। यथा, अर्जुन युद्ध करने के लिए बिल्कुल इच्छुक न था, क्योंकि अपने सम्बन्धियों तथा परिजनों से युद्ध करना या उन्हें मारना उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था। फिर भी क्षत्रियों को ऐसे अवांछित कार्य कर्तव्य के रूप में करने ही पड़ते थे। कर वसूलते समय या अपराध-कार्य करने के लिए प्रजा को दण्डित करते समय महाराज अन्तर्धान को तनिक भी प्रसन्नता न होती, फलतः उन्होंने यज्ञ करने के बहाने कम उम्र में ही राजसी शक्ति से मुख मोड़ दिया।

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक् ।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—अपनी व्यस्तता के बावजूद; हंसम्—जो अपने सम्बन्धियों के कष्ट को दूर करता है; पुरुषम्—परम पुरुष को; परम-आत्मानम्—परम प्रिय परमात्मा; आत्म-दृक्—जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है; यजन्—पूजा द्वारा; तत्-लोकताम्—उसी लोक को; आप—प्राप्त किया; कुशलेन—सरलतापूर्वक; समाधिना—समाधि में लीन रह कर।.

यद्यपि महाराज अन्तर्धान यज्ञ करने में व्यस्त रहते थे, किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के नाते वे भक्तों के समस्त भय को दूर करने वाले भगवान् की भक्ति भी करते रहे। इस प्रकार भगवान् की पूजा करते हुए महाराज अन्तर्धान समाधि में लीन रह कर सरलतापूर्वक भगवान् के ही लोक को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : चूँकि सामान्यतः यज्ञ सकाम कर्मियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, अतः यहाँ विशेष उल्लेख है (*तत्रापि*) कि यद्यपि महाराज अन्तर्धान बाह्य रूप से यज्ञ करते थे, किन्तु उनकी वास्तविक वृत्ति तो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति करनी थी। दूसरे शब्दों में, वे सामान्य यज्ञों को *संकीर्तन-यज्ञ* की विधि से सम्पन्न करते थे जिसकी संस्तुति यहाँ पर की गई है (भागवत ७.५.२३)

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भक्ति को *कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* के द्वारा मनुष्य सरलता से उस लोक को जाता है जहाँ परमेश्वर का वास है। पाँच प्रकार के मोक्षों में से जिस लोक में भगवान् रहते हैं उसे प्राप्त करके भगवान् के साथ रहने को *सालोक्य* मोक्ष कहते हैं।

हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट्सुतान् ।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

हविर्धानात्—हविर्धान से; हविर्धानी—हविर्धान की पत्नी ने; विदुर—हे विदुर; असूत—जन्म दिया; षट्—छह; सुतान्—पुत्रों को; बर्हिषदम्—बर्हिषत् नामक; गयम्—गय नामक; शुक्लम्—शुक्ल नामक; कृष्णम्—कृष्ण नामक; सत्यम्—सत्य नामक; जितव्रतम्—जितव्रत को।.

महाराज अन्तर्धान के पुत्र हविर्धान की पत्नी का नाम हविर्धानी था जिसने छह पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे बर्हिषत्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य तथा जितव्रत।

बर्हिषत्सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः ।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

बर्हिषत्—बर्हिषत्; सु-महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली; हाविर्धानिः—हाविर्धानि नामक; प्रजा-पतिः—प्रजापति का पद; क्रिया-काण्डेषु—सकाम कर्म करने में; निष्णातः—लीन रहने वाला; योगेषु—योगाभ्यास में; च—भी; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में श्रेष्ठ (विदुर)!.

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, हविर्धान का अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञादि, कर्मकाण्ड तथा योगाभ्यास में अत्यन्त कुशल था। अपने महान् गुणों के कारण वह प्रजापति कहलाया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अतः शक्तिशाली जीवात्माओं या देवताओं को सन्तान उत्पन्न करने तथा जनसंख्या बढ़ाने के लिए प्रजापति के रूप में नियुक्त किया जाता था। प्रजापति कई थे। ब्रह्मा, दक्ष तथा मनु को भी कभी कभी प्रजापति कहा जाता है। हविर्धान का पुत्र बर्हिषत् भी इनमें से एक था।

यस्येदं देवयजनमनुयज्ञं वितन्वतः ।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इदम्—यह; देव-यजनम्—यज्ञों द्वारा देवों को तुष्ट करना; अनुयज्ञम्—निरन्तर यज्ञ करते रहना; वितन्वतः—करते हुए; प्राचीन-अग्रैः—पूर्व दिशा की ओर रखते हुए; कुशैः—कुशों से; आसीत्—हो गई; आस्तृतम्—बिखरे हुए; वसुधा-तलम्—पृथ्वी के ऊपर।

महाराज बर्हिषत् ने संसार भर में अनेक यज्ञ किये। उन्होंने कुश घासों को बिखेर कर उनके अग्रभागों को पूर्व की ओर रखा।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, महाराज बर्हिषत् यज्ञों के कर्मकाण्ड में गहनभाव से लीन रहते थे (*क्रिया-काण्डेषु निष्णातः*)। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्योंही एक स्थान पर यज्ञ समाप्त होता था, उसी के निकट दूसरे स्थान पर वह दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर देता था। आज के समय में भी सारे संसार में *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न किये जाने की ऐसी ही आवश्यकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ने विभिन्न स्थानों पर *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है और यह देखा गया है कि जहाँ भी ऐसा यज्ञ किया जाता है, वहाँ हजारों लोग एकत्र होते हैं और उसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अदृश्य कल्याण को सारे संसार भर में चालू करना चाहिए। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के सदस्यों को एक के पश्चात् एक इतने *संकीर्तन* यज्ञ करने चाहिए कि लोग, हँसी-हँसी में ही सही या फिर गम्भीरतापूर्वक हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जाप करें। इससे उनके हृदय विमल होंगे। भगवान् का पवित्र नाम (*हरेर्नाम*) इतना शक्तिशाली होता है कि चाहे हँसी में जपा जाये या गम्भीरतापूर्वक, इस मंत्र की ध्वनि चारों ओर समान रूप से फैलती है। इस समय महाराज बर्हिषत् की भाँति बारम्बार यज्ञ करना सम्भव नहीं है, किन्तु संकीर्तन यज्ञ करना तो हमारे वश में है, क्योंकि इसमें कुछ भी धन लगता नहीं। कोई कहीं भी बैठकर हरे-कृष्ण-महामंत्र का जप कर सकता है। यदि पृथ्वी तल को हरे कृष्ण मंत्र के जप से आप्लावित कर दिया जाये तो संसार के लोग परम सुखी हो जाँय।

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम् ।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सामुद्रीम्—समुद्र की कन्या को; देव-देव-उक्ताम्—परम देवता ब्रह्मा के कहने से; उपयेमे—विवाह किया; शतद्रुतिम्—शतद्रुति नामक; याम्—जिसको; वीक्ष्य—देखकर; चारु—अत्यन्त आकर्षक; सर्व-अङ्गीम्—शरीर के सभी अंग; किशोरीम्—युवती; सुष्ठु—अत्यधिक; अलङ्कृताम्—आभूषणों से सजी; परिक्रमन्तीम्—परिक्रमा करती, घूमती; उद्वाहे—विवाह में; चकमे—आकर्षित होकर; अग्निः—अग्निदेव ने; शुकीम्—शुकी को; इव—सदृश।

महाराज बर्हिषत् (आगे प्राचीनबर्हि नाम से विख्यात) को परम देवता ब्रह्माजी ने समुद्र की कन्या शतद्रुति के साथ विवाह करने का आदेश दिया था। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर थे और वह अत्यन्त युवा थी। वह समुचित परिधानों से अलंकृत थी। जब वह विवाह-मण्डप में आकर प्रदक्षिणा करने लगी तो अग्निदेव उस पर इतने मोहित हो गये कि उन्होंने उसे संगी बना कर उसके साथ भोग करना चाहा जिस तरह पहले भी उन्होंने शुकी के साथ करना चाहा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सुष्ठ्वलङ्कृताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कन्या का विवाह वैदिक रीति से होता है, तो उसे मूल्यवानवस्त्रों तथा आभूषणों से अत्यधिक अलकृंत किया जाता है और विवाह के समय वधू वर की सात प्रदक्षिणाएँ करती है। तत्पश्चात् वर वधू एक दूसरे को देखते हैं और जीवन भर के लिए आकर्षित हो जाते हैं। जब वर बधू को अतीव सुन्दरी पाता है, तो उनके मध्य अति प्रबल आकर्षण स्थिर हो जाता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कथित है, स्त्री तथा पुरुष स्वभाव से एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और जब वे विवाह से बँध जाते हैं, तो यह आकर्षण और भी सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अत्यधिक आकृष्ट होकर वर (दूल्हा) बढ़िया घर और अन्न उत्पन्न करने के लिए अच्छा खेत बनाना चाहता है। तब सन्तान उत्पन्न होती है, मित्र बनते हैं तथा सम्पत्ति आती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन की भौतिकता में अधिकाधिक फँसता जाता है और सोचने लगता है, ''यह मेरा है,'' ''मैं ही काम करने वाला हूँ।'' इस तरह संसार का मोह बढ़ता जाता है।

शुकीम् इव शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जब शतद्रुति प्राचीनबर्हि की प्रदक्षिणा कर रही थी अग्नीदेव उसकी सुन्दरता पर उसी तरह मोहित हो गये जिस प्रकार वे पहले सप्तर्षि की पत्नी शुकी पर मोहित हो चुके थे। जब बहुत काल पूर्व सप्तर्षि-सभा में अग्निदेव उपस्थित थे तो वे शुकी पर जब वह प्रदक्षिणा कर रही थी इसी प्रकार मोहित हुए थे। तब अग्नि की पत्नी स्वाहा ने शुकी का रूप धारण कर अग्नि के साथ संभोग किया था। न केवल अग्नि, अपितु स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा कभी-कभी ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता भी काममोहित होते रहे हैं। जीवात्माओं में काम-भावना

इतनी प्रबल होती है कि सारा भौतिक संसार विषय-आकर्षण के द्वारा ही संचालित हो रहा है और काम-वासना के कारण ही मनुष्य भौतिक संसार में रहने तथा विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने के लिए बाध्य होता है। अगले श्लोक में विषयी जीवन के प्रति आकर्षण का चित्रण हुआ है।

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विबुध—विद्वान; असुर—असुर; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; मुनि—बड़े-बड़े साधु; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; नर—पृथ्वी लोक के वासी; उरगाः—नाग लोक के वासी; विजिताः—मोहित; सूर्यया—नवेली द्वारा; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; क्वणयन्त्या—झंकार करती हुई; एव—केवल; नूपुरैः—अपने नुपूरों से।

जब शतद्रुति का इस तरह विवाह हो रहा था, तो असुर, गन्धर्वलोक के वासी, बड़े-बड़े साधु एवं सिद्धलोक, पृथ्वीलोक तथा नागलोक के वासी, सभी परम विद्वान् होते हुए भी उसके नुपूरों की झनकार से मोहित हो रहे थे।

तात्पर्य : सामान्य रूप से कम आयु में विवाह हो जाने पर एक सन्तान को जन्म देने के पश्चात् स्त्री अधिक सुन्दर हो जाती है। सन्तान को जन्म देना नारी का प्राकृतिक कार्य है। इस प्रकार एक के बाद एक सन्तान उत्पन्न करके वह अधिकाधिक सुन्दर होती जाती है। किन्तु शतद्रुति इतनी सुन्दर थी कि उसने अपने विवाहोत्सव में ही सारे संसार को मोह लिया। दरअसल, उसने अपने नुपूरों की झनकार से ही बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् देवताओं को आकृष्ट कर लिया। इससे सूचित होता है कि सभी देवता उसका सौंदर्य देखना चाह रहे थे, किन्तु वस्त्राभूषणों से ढकी होने के कारण वे उसे ठीक से देख नहीं पा रहे थे। चूँकि वे उसके पाँव ही देख रहे थे, अतः नुपूरों की झनकार सुनकर ही वे मोहित हो रहे थे। उन्हें उसका पूरा सौंदर्य देखने की आवश्यकता न थी। कभी-कभी मनुष्य स्त्रियों की चूड़ियों की खनक, नुपूरों की झनकार अथवा साड़ी देखकर ही काममोहित हो उठता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री माया का पूर्ण रूप है। यद्यपि विश्वामित्र मुनि आँखें बन्द किये योगाभ्यास में लीन थे, किन्तु जब उन्होंने मेनका की चूड़ियों की खनक सुनी तो उनका दिव्य ध्यान टूट गया। इस प्रकार विश्वामित्र मेनका के चंगुल में आ गये और उससे एक सन्तान उत्पन्न हुई जो शकुन्तला नाम से जगत्प्रसिद्ध हुई। निष्कर्ष यह है कि कोई भी अपने को नारी-आकर्षण से नहीं बचा सकता, भले ही वह महान् देवता अथवा उच्चलोक का वासी क्यों न हो। केवल भगवद्भक्त, जो कृष्ण पर आसक्त है,

स्त्री के आकर्षण से बच पाता है। एक बार कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने पर संसार की माया उसे आकर्षित नहीं कर सकती।

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्राः—पुत्र; शतद्रुत्याम्—शतद्रुति के गर्भ से; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न हुए; तुल्य—समान; नाम—नाम; व्रताः—व्रत; सर्वे—सभी; धर्म—धार्मिकता में; स्नाताः—पूर्णतया मग्न; प्रचेतसः—सबों का प्रचेता नाम पड़ा।

राजा प्राचीनबर्हि ने शतद्रुति के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये। वे सभी समान रूप से धर्मात्मा थे और प्रचेता नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : *धर्म-स्नाताः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दसों पुत्र धर्म में पूर्णतः रत थे। साथ ही वे समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न थे। मनुष्य तभी पूर्ण माना जाता है जब वह पूर्ण रूप से धार्मिक हो, अपनी भक्ति के व्रत में पूर्ण हो, ज्ञान में पूर्ण हो एवं उत्तम आचरण वाला हो। सभी प्रचेतागण समान रूप से सिद्ध थे।

पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन् ।
दशवर्षसहस्राणि तपसार्चंस्तपस्पतिम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—पिता द्वारा; आदिष्टाः—आदेश पाकर; प्रजा-सर्गे—सन्तान उत्पन्न करने के विषय में; तपसे—तपस्या करने में; अर्णवम्—समुद्र में; आविशन्—प्रविष्ट होकर; दश-वर्ष—दस साल; सहस्राणि—हजारों; तपसा—अपनी तपस्या से; आर्चन्—पूजा की; तपः—तपस्या के; पतिम्—स्वामी की।

जब इन सभी प्रचेताओं को उनके पिता ने विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तो सबों ने समुद्र में प्रवेश किया और दस हजार वर्षों तक तपस्या की। इस प्रकार उन्होंने समस्त तपस्या के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना की।

तात्पर्य : कभी-कभी ऋषि तथा साधु संसार के शोरगुल से दूर एकान्तवास करने के लिए हिमालय पर्वत में जाते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि एकान्तवास में तपस्या करने के लिए प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने समुद्र के भीतर प्रवेश किया। चूँकि वे दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहे, अतः यह घटना सत्ययुग की है, क्योंकि तब लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है

कि तपस्या करते हुए उन्होंने तपेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की। यदि चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई तपस्या करना चाहता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिए। यदि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई तो समझिये कि उसने सारी तपस्याएँ समाप्त करके उनमें दक्षता प्राप्त कर ली है। दूसरी ओर, यदि उसे भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती तो उसकी सारी तपस्याएं व्यर्थ हैं, क्योंकि तपस्या करने से प्राप्त होने वाले सर्वोच्च फल को परमेश्वर के बगैर कोई ग्रहण नहीं कर सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त तपस्याओं तथा यज्ञों के स्वामी हैं। *भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।* इस प्रकार तपस्या का वांछित फल भगवान् श्रीकृष्ण से ही प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में कहा गया है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

भले ही कोई चाण्डाल कुल में अर्थात् मानव समाज का सबसे निचले वर्ग में क्यों न जन्मा हो, यदि वह भगवान् के नाम का जप करता है, तो वह धन्य है, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे जप से भक्त यह सिद्ध कर देता है कि पिछले जन्म में उसने सभी प्रकार की तपस्याएँ की थीं। भगवान् चैतन्य की कृपा से जो कोई महामंत्र (हरे कष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।) का जप करता है, वह उस परम सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसे पहले के लोग समुद्र में प्रवेश करके दस हजार वर्षों तक तपस्या करके प्राप्त करते थे। यदि इस कलियुग में कोई हरे कृष्ण मंत्र जप करने का लाभ नहीं उठाता, जो इस युग की पतितात्माओं के लिए सबसे बड़ी छूट है, तो यह समझना चाहिए कि वह भगवान् की माया से मोहग्रस्त है।

यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता ।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उक्तम्—कहा गया; पथि—रास्ते में; दृष्टेन—भेंट करके; गिरिशेन—भगवान् शिव द्वारा; प्रसीदता—अत्यन्त प्रसन्न होकर; तत्—वही; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; जपन्तः च—और जप करते हुए; पूजयन्तः च—और पूजते हुए; संयताः—अत्यन्त संयमपूर्वक।

जब प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने तपस्या करने के उद्देश्य से घर छोड़ दिया तो उन्हें शिवजी मिले, जिन्होंने अत्यन्त कृपा करके उन्हें परम सत्य के विषय में उपदेश दिया। प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने उनके उपदेशों को अत्यन्त सावधानी तथा मनोयोग से जपते तथा पूजा करते हुए उनके विषय में ध्यान किया।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि तपस्या करने के लिए या किसी भी प्रकार की भक्ति के लिए गुरु द्वारा पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि महाराज प्राचीनबर्हि के दसों पुत्रों को भगवान् शिव के प्रकट होने से यह कृपा प्राप्त हुई और उन्होंने दयावश उन्हें तपस्या करने के विषय में उपदेश दिया। वास्तव में भगवान् शिव उन दसों के गुरु हो गये और बदले में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को इतनी गम्भीरता से ग्रहण किया कि मात्र उन पर ध्यान करने से (*ध्यायन्तः*) वे सिद्ध हो सके। यही सफलता का रहस्य है। दीक्षा ग्रहण करके तथा गुरु से आदेश प्राप्त करके शिष्य को बिना हिचक के गुरु के उपदेशों या आदेशों के विषय में ध्यान करना चाहिए और अपने आपको किसी अन्य वस्तु से विचलित नहीं होने देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी यही मत है जिन्होंने *भगवद्गीता* के (२.४१) एक श्लोक (*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*) की व्याख्या करते हुए इंगित किया है कि शिष्य के लिए गुरु का आदेश ही जीवनाधार है। शिष्य भगवान् के धाम जा रहा है या नहीं, इसकी परवाह न करके उसका पहला कर्तव्य है गुरु के आदेश का पालन करे। इस प्रकार शिष्य को गुरु के आदेश पर ध्यान धारण करना चाहिए। यही समग्र ध्यान है। उसे न केवल उस आदेश के विषय में ध्यान करना चाहिए, अपितु उन साधनों की खोज भी करनी चाहिए जिनसे वह ठीक से उपासना कर सके और उसे पूरी कर सके।

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत्पथि सङ्गमः ।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन्वदार्थवत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; प्रचेतसाम्—समस्त प्रचेताओं की; गिरित्रेण—शिवजी द्वारा; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; पथि—रास्ते में; सङ्गमः—भेंट; यत्—जो; उत आह—कहा; हरः—शिवजी ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तत्—वह; नः—हमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वद—कहो; अर्थ-वत्—अर्थ समझा कर।

विदुर ने मैत्रेय से पूछाः हे ब्राह्मण, प्रचेतागण रास्ते में शिवजी से क्यों मिले? कृपया मुझे बताएँ कि उनसे किस प्रकार भेंट हुई, भगवान् शिव उनसे किस प्रकार इतने प्रसन्न हो गये और उन्होंने क्या उपदेश दिया? निस्सन्देह, ऐसी बातें महत्वपूर्ण हैं और मैं चाहता हूँ कि आप कृपा करके मुझसे इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : जब भी भक्त तथा भगवान् के बीच या उच्च भक्तों में परस्पर महत्त्वपूर्ण वार्ताएँ हों तो मनुष्य को उन्हें उत्सुकता से सुनना चाहिए। नैमिषारण्य की सभा में जहाँ सभी ऋषियों को सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* सुना रहे थे, उनसे भी महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी की वार्ताओं के विषय में पूछा गया, क्योंकि ऋषियों को विश्वास था कि उनकी वार्ताएँ भी भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन के मध्य हुई वार्ताओं के समान महत्त्वपूर्ण रही होंगी। जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति *भगवद्गीता* से पूर्णतया अवगत होना चाहता है, उसी प्रकार विदुर भी शिव तथा प्रचेताओं के बीच हुई वार्ता के विषय में ऋषि मैत्रेय से जानने के लिए उत्सुक थे।

सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम् ।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सङ्गमः—संग, समागम; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ; शिवेन—शिव के साथ; इह—इस संसार में; शरीरिणाम्—भौतिक देहों में बँधे हुओं का; दुर्लभः—कठिन; मुनयः—मुनिगण; दध्युः—ध्यान में लगे हुए; असङ्गात्—प्रत्येक वस्तु से विरक्त; यम्—जिसको; अभीप्सितम्—इच्छा करते हुए।

विदुर ने आगे कहा : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, देहधारियों के लिए शिवजी के साथ साक्षात् सम्पर्क कर पाना अत्यन्त कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि भी जिन्हें भौतिक आसक्ति से कोई लेनदेन नहीं होता, उनका समागम पाने के लिए ही, ध्यान में लीन रहने के बावजूद भी उनका संसर्ग प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : चूँकि बिना विशेष कारण के शिवजी अवतरित नहीं होते, अतः सामान्य व्यक्ति का उनसे सम्पर्क कर पाना कठिन है। किन्तु जब भगवान् का आदेश होता है, तो उन्हें किसी विशेष अवसर पर अवतार लेना होता है। इस प्रसंग में *पद्म पुराण* में कहा गया है कि कलियुग में मायावाद दर्शन का

उपदेश देने के लिए शिवजी ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे। यह दर्शन बौद्ध दर्शन के एक प्रकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। *पद्म पुराण* का कथन है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।

मयैव विहितं देवी कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

शिवजी ने पार्वती से पहले ही बता दिया था कि वे बौद्ध दर्शन के उन्मूलन हेतु संन्यासी ब्राह्मण के वेश में मायावाद दर्शन का विस्तार करेंगे। यह संन्यासी और कोई नहीं बल्कि श्रीपाद शंकराचार्य थे। बौद्ध दर्शन के प्रभावों पर विजय पाने तथा वेदान्त दर्शन का प्रसार करने के लिए श्रीपाद शंकराचार्य को बौद्ध दर्शन के साथ कुछ समझौता करना पड़ा और उस समय की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने केवल अद्वैतवाद का उपदेश दिया, अन्यथा उन्हें मायावाद दर्शन के उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस समय मायावाद दर्शन या बौद्ध दर्शन के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् चैतन्य ने इन दोनों का बहिष्कार किया। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् चैतन्य के दर्शन का प्रसार और दोनों प्रकार के मायावादी दर्शनों का बहिष्कार कर रहा है। एक प्रकार से बौद्ध दर्शन तथा शंकर दर्शन सांसारिक स्तर पर मायावाद के विभिन्न रूप हैं। इनमें से किसी का भी आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। आध्यात्मिक महत्त्व तो *भगवद्गीता* के दर्शन को स्वीकार करने के पश्चात् है, जो भगवान् की शरण ग्रहण करने में फलीभूत होता है। सामान्यत: लोग किसी लाभ के लिए शिवजी की पूजा करते हैं और उनका साक्षात् दर्शन किए बिना भी वे उनकी उपासना करके बड़े-बड़े भौतिक लाभ प्राप्त करते हैं।

आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे ।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान्भव: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आराम:—आत्मतुष्ट; अपि—यद्यपि वह है; य:—जो है; तु—लेकिन; अस्य—इस; लोक—भौतिक जगत; कल्पस्य—प्रकट होने पर; राधसे—इस संसार की सहायता के लिए; शक्त्या—शक्ति से; युक्त:—साथ; विचरति—कार्य करता है; घोरया—अत्यन्त भयानक; भगवान्—भगवान्; भव:—शिव।

शिवजी जो अत्यन्त शक्तिशाली देवता हैं और वे आत्माराम हैं, जिनका नाम भगवान् विष्णु के ही बाद आता है। यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत में किसी वस्तु की कोई आकांक्षा नहीं है, किन्तु वे संसारी लोगों के कल्याण कार्य में सदैव व्यस्त रहते हैं और अपनी घोर शक्तियों—यथा देवी काली तथा देवी दुर्गा—के साथ रहते हैं।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् के सबसे बड़े भक्त माने जाते हैं। वे सभी प्रकार के वैष्णवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। फलतः शिवजी का एक वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसे रुद्र सम्प्रदाय कहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्माजी से ब्रह्म सम्प्रदाय चलता है उसी प्रकार शिवजी से रुद्र सम्प्रदाय। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है शिवजी बारह महाजनों में से एक हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

ईश्वर की भक्ति का उपदेश करने वाले बारह महाजन हैं। *शम्भु* का अर्थ है शिवजी। उनकी शिष्य-परम्परा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय नाम से भी ज्ञात है और वर्तमान विष्णुस्वामी सम्प्रदाय को वल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं। वर्तमान ब्रह्म-सम्प्रदाय मध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय कहलाता है। यद्यपि शिवजी मायावाद दर्शन का उपदेश करते प्रतीत होते थे, किन्तु शंकराचार्य के रूप में अपनी लीलाओं के अन्त में उन्होंने वैष्णव दर्शन—*भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते*—का उपदेश दिया। उन्होंने भगवान् कृष्ण या गोविन्द की पूजा के विषय में इस श्लोक में तीन बार बल दिया है और उन्होंने अपने शिष्यों को आगाह किया है कि वे मात्र शब्दजाल तथा व्याकरणिक गुत्थियों के द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कोई सचमुच मुक्ति चाहता है, तो उसे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए। यही श्रीपाद शंकराचार्य का अन्तिम उपदेश है।

यहाँ पर यह उल्लेख हुआ है कि शिवजी सदैव अपनी भौतिक शक्ति के साथ रहते हैं (*शक्त्या-घोरया*)। भौतिक शक्ति—देवी दुर्गा या देवी काली—सदैव उनके वश में रहती हैं। देवी काली तथा दुर्गा समस्त असुरों को मारकर उनकी सेवा करती हैं। कभी-कभी देवी काली इतनी क्रुद्ध हो उठती हैं कि बिना विचारे सारे असुरों का वध कर देती हैं। देवी काली के सर्वाधिक प्रचलित चित्र में उन्हें असुरों के मुंडों की माला पहने और बाएँ हाथ से एक सिर को पकड़े तथा दाएँ में एक विशाल खड्ग लिए दिखाया जाता है। महान् युद्ध काली द्वारा असुरों के विनाश के प्रतीक स्वरूप हैं और वास्तव में देवी काली द्वारा किए जाते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका (*ब्रह्म-संहिता* ५.४४)

असुर लोग भौतिक वैभव से पूजा द्वारा देवी काली या दुर्गा को प्रसन्न रखना चाहते हैं, किन्तु जब

असुर अत्यधिक असह्य हो उठते हैं, तो देवी काली उनका बड़े पैमाने पर वध करने मे हिचकती नहीं हैं। असुरगण शिवजी की शक्ति के रहस्य को नहीं जानते और वे भौतिक लाभ के लिए देवी काली या दुर्गा या शिवजी की पूजा करते हैं। अपने आसुरी आचरण के कारण वे भगवान् की शरण में नहीं जाते जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१५) में संकेत मिलता है।

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥

शिवजी का कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उन्हें देवी काली (या दुर्गा) की शक्ति काम में लानी पड़ती है। एक अन्य प्रचलित चित्र में देवी काली को कभी-कभी शिवजी के शरीर पर खड़ा दिखलाया जाता है, जो यह बताता है कि कभी-कभी काली द्वारा असुरों का वध बन्द करवाने के लिए शिवजी को पृथ्वी पर दण्डवत् लेटना पड़ता है। चूँकि शिवजी महान् भौतिक शक्ति (देवी दुर्गा) को अपने वश में रखते हैं, अत: शिव के उपासक इस संसार में प्रचुर ऐश्वर्य युक्त पद प्राप्त करते हैं। शिवजी के आदेश से शिवभक्त सभी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करता है। इसके विपरीत विष्णु के उपासक वैष्णव भौतिक सम्पत्ति में शनै-शनै निर्धन होते जाते हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु अपने भक्तों को सांसारिक ऐश्वर्य के बन्धन में नहीं पड़ने देना चाहते। वे तो अपने भक्तों को अन्त:करण से बुद्धि प्रदान करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो निरन्तर मेरी भक्ति में रत रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

इस प्रकार भगवान् विष्णु अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि भक्त को किसी प्रकार के भौतिक वैभव से कोई सरोकार नहीं रहता, अत: वह देवी काली या दुर्गा के अधीन नहीं रहता।

शिवजी इस संसार में तमोगुण के भी अधीक्षक हैं। उनकी शक्ति, देवी दुर्गा, समस्त जीवों को अविद्या के अंधकार में रखती हुई बतायी जाती है (*या देवी सर्वभूतेषु निद्रा-रूपं संस्थिता*)। ब्रह्मा तथा

शिव दोनों ही भगवान् विष्णु के अवतार हैं, किन्तु ब्रह्मा को सृष्टि करने का भार सौंपा गया जब कि शिवजी को संहार का, जिसे वे अपनी भौतिक शक्ति देवी काली या देवी दुर्गा की सहायता से पूरा करते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में शिवजी को ध्वंसक शक्तियों (*शक्त्या-घोरया*) के साथ रहते बताया गया है और वस्तुस्थिति भी यही है।

मैत्रेय उवाच
प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—ऋषि मैत्रेय ने कहा; **प्रचेतसः**—राजा प्राचीबर्हि के सारे पुत्र; **पितुः**—पिता के; **वाक्यम्**—शब्द को; **शिरसा**—मस्तक पर; **आदाय**—धारण करके; **साधवः**—सभी पवित्र; **दिशम्**—दिशा की ओर; **प्रतीचीम्**—पश्चिमी; **प्रययुः**—चले गये; **तपसि**—तपस्या में; **आदृत**—गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करके; **चेतसः**—हृदय में।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, अपनी साधु प्रकृति के कारण प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने अपने पिता के वचनों को शिरोधार्य किया और पिता की आज्ञा पूरी करने के उद्देश्य से वे पश्चिम दिशा की ओर चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधवः* (पवित्र या सदाचारी) शब्द आज की परिस्थिति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह *साधु* शब्द से निकला है। पूर्ण साधु वह है, जो भगवान् की भक्ति में सदैव लगा रहता है। प्राचीनबर्हि के पुत्रों को *साधवः* कहा गया है, क्योंकि वे पिता के आज्ञाकारी थे। पिता, राजा तथा गुरु को भगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है, अतः उनका भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। पिता, गुरु तथा राजा का धर्म है कि वे अपने अधीनस्थों को इस प्रकार नियंत्रित करें कि अन्ततः वे भगवान् के शुद्ध भक्त बन सकें। वह तो बड़ों का कर्तव्य है और अधीनस्थों का कर्तव्य यह है कि वे आदेशों का सही तथा अनुशासित ढंग से पालन करें। *शिरसा* (अपने मस्तक पर) शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रचेताओं ने पिता के आदेश को मस्तक पर धारण कर लिया, जिसका अर्थ है कि उन्होंने उसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया।

ससमुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन्सुमहत्सरः ।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स-समुद्रम्—समुद्र के निकट ही; उप—कुछ-कुछ; विस्तीर्णम्—अत्यन्त लम्बा चौड़ा; अपश्यन्—उन्होंने देखा; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; सरः—जलाशय; महत्—महापुरुष; मनः—मन; इव—सदृश; सु-अच्छम्—स्वच्छ, निर्मल; प्रसन्न—प्रसन्न; सलिल—जल; आशयम्—शरण में आये हुए।

चलते-चलते प्रचेताओं ने एक विशाल जलाशय देखा जो समुद्र के समान ही विशाल दिखता था। इसका जल इतना शान्त था मानो किसी महापुरुष का मन हो और इसके जलचर इतने बड़े जलाशय की संरक्षण में होकर अत्यन्त शान्त तथा प्रसन्न प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : *स-समुद्र* का अर्थ है समुद्र के निकट। वह जलाशय खाड़ी के समान था, क्योंकि समुद्र के निकट ही था। *उप* शब्द जिस का अर्थ है ''न्यूनाधिक'' कई प्रकार से प्रयुक्त होता है यथा *उपपति* से ''कुछ-कुछ'' पति अर्थात् पति के समान प्रेमी सूचित होता है। *उप* का अर्थ 'बड़ा' 'छोटा' या 'पास' भी होता है। इन सब बातों को देखते हुए, प्रचेताओं ने जो जलाशय देखा था, वह वास्तव में एक बड़ी खाड़ी या झील (सरोवर) था। किन्तु यह जलाशय समुद्र की तरह उद्दाम लहरों से युक्त न होकर अत्यन्त शान्त था। इसका जल इतना निर्मल था मानो किसी महापुरुष का मन हो। ज्ञानी, योगी, भक्त—ये सभी महापुरुष अथवा शुद्ध भक्त हैं जो महान् आत्माएं भी कहलाती हैं, किन्तु हैं अत्यन्त दुर्लभ। योगियों तथा ज्ञानियों में अनेक महापुरुष मिलते हैं, किन्तु ऐसा महापुरुष, जो भगवान् का शुद्ध भक्त हो और भगवान् के प्रति पूर्णत: समर्पित हो, विरला ही होता है—*स महात्मा सुदुर्लभ:* (*भगवद्गीता* ७.१९)। भक्त का मन सदैव शान्त एवं निष्काम होता है, क्योंकि वह सदैव *अन्याभिलाषिता शून्यम्* होता है, अर्थात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी की दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में सेवा नहीं करना चाहता। कृष्ण की निरन्तर संगति के कारण भक्त सदैव अत्यन्त शान्त रहता है। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि उस जलाशय के सारे प्राणी भी अत्यधिक शान्त थे। चूँकि भक्त के शिष्य महापुरुष की शरण में रहते हैं, वे परम शान्त हो जाते हैं और भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते।

इस भौतिक संसार को प्राय: अज्ञान-सागर कहा जाता है। ऐसे सागर की प्रत्येक वस्तु विचलित होती रहती है। भक्त का मन भी समुद्र या जलाशय के समान है, किन्तु उसमें उद्वेलन नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।* जो भगवान् की सेवा में दृढ़ हैं, वे किसी तरह विचलित नहीं होते। *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।* यदि जीवन में विफलताएँ भी आएँ तो भी भक्त विचलित

नहीं होता। अत: जो भी महापुरुष या भक्त की शरण ग्रहण करता है, वह शान्त हो जाता है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—*कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।* कृष्ण का भक्त सदैव शान्त रहता है, क्योंकि वह निष्काम होता है, किन्तु योगी, कर्मी तथा ज्ञानी अनेक इच्छाओं से पूर्ण होते हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहते हैं, अत: वे भी इच्छाओं से पूर्ण होते हैं, किन्तु ऐसी इच्छाओं से उनके मन विक्षुब्ध नहीं होते। यद्यपि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहता है, किन्तु वह जीवन की सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहता है। फलत: इस श्लोक में *महन्-मन:* शब्द यह आभास देने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि जलायश का पानी उतना ही शान्त था जितना कि भक्त का मन।

नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नील—नील; रक्त—लाल; उत्पल—कमल; अम्भ:-ज—जल से उत्पन्न; कह्लार—कमल की एक किस्म; इन्दीवर—कमल की एक किस्म; आकरम्—खान; हंस—हंस पक्षी; सारस—एक पक्षी; चक्राह्व—चकवा नाम का पक्षी; कारण्डव—पक्षी विशेष; निकूजितम्—चहक रहे थे।.

उस विशाल सरोवर में विभिन्न प्रकार के कमल पुष्प थे। कुछ नीले थे तो कुछ लाल, कुछ रात्रि में खिलने वाले थे, तो कुछ दिन में और इन्दीवर जैसे कुछ कमल शाम को खिलने वाले थे। इन सब फूलों से सारा सरोवर पुष्पों की खान सा प्रतीत हो रहा था। फलस्वरूप सरोवर के तटों पर हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव तथा अन्य सुन्दर जलपक्षी खड़े हुए थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आकरम्* (खान) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जलाशय ऐसी खान के सदृश लग रहा था, जिसमें विभिन्न प्रकार के कमल उत्पन्न होते हों। कुछ कमल तो दिन में खिलने वाले थे, कुछ रात्रि में और कुछ सायंकाल खिलने वाले थे, और तदनुसार उनके नाम तथा रंग भिन्न-भिन्न थे, ये सभी फूल सरोवर में विद्यमान थे और सरोवर शान्त था तथा कमल पुष्पों से पूरित था अत: हंस, चक्रवाक तथा कारण्डव जैसे पक्षी किनारों पर खड़े थे और विभिन्न प्रकार के गीत गा रहे थे, जिससे सारा दृश्य मनोरम लगता था। जिस प्रकार प्रकृति के तीन गुणों के मेल से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार पक्षी, वृक्ष, भौंरे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ही सारी वस्तुएँ विभाजित हैं। हंस तथा सारस जैसे पक्षी, जो स्वच्छ जल तथा कमल पुष्पों का

आनन्द उठाते हैं, गंदे स्थानों पर बैठने वाले कौवों से पृथक् हैं। इसी प्रकार मनुष्य हैं—वे रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं और सतोगुणी भी। यह सृष्टि इतनी विचित्र है कि प्रत्येक समाज में भिन्नताएँ हैं। इस प्रकार कमल पुष्पों से पूरित उस विशाल सरोवर के तट पर सभी उत्तम पक्षी आनन्द ले रहे थे।

मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् ।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मत्त—पागल; भ्रमर—भौंरे; सौ-स्वर्य—भिनभिनाहट के साथ; हृष्ट—प्रसन्नतापूर्वक; रोम—शरीर के बाल; लता—बेलें; अङ्घ्रिपम्—वृक्ष; पद्म—कमल; कोश—कोश, दलपुञ्ज; रजः—केशर; दिक्षु—सभी दिशाओं में; विक्षिपत्—बिखेरते हुए; पवन—वायु; उत्सवम्—उत्सव, पर्व।

उस सरोवर के चारों ओर तरह-तरह के वृक्ष तथा लताएँ थीं और उन पर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। भौंरों की मधुर गूँज से वृक्ष अत्यन्त उल्लसित लग रहे थे और कमल पुष्पों का केसर वायु में बिखर रहा था। इन सबसे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो रहा था मानो कोई उत्सव हो रहा हो।

तात्पर्य : वृक्ष तथा लताएँ भी विविध प्रकार के जीव हैं। जब भौंरें इन वृक्षों तथा लताओं से मधु संचय करने के लिए आते हैं, तो ये वृक्ष अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वायु भी ऐसे अवसर का लाभ उठाकर कमल पुष्पों के केशर को बिखेर देती है। तिस पर हंसों का कलरव तथा शान्त जल। प्रचेतागण ऐसे वातावरण को एक अनवरत उत्सव मान बैठे। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रचेतागण शिवलोक पहुँच गये थे, जो हिमालय पर्वत में स्थित माना जाता है।

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् ।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; गान्धर्वम्—मधुर ध्वनि; आकर्ण्य—सुनकर; दिव्य—स्वर्गिक; मार्ग—समान रूप से; मनः-हरम्—सुन्दर; विसिस्म्युः—वे चकित हो गये; राज-पुत्राः—राजा बर्हिषत के पुत्र; ते—वे सब; मृदङ्ग—मृदंग, ढोल; पणव—ताशा, धौंसा; आदि—सब मिलकर; अनु—सदैव।

जब राजा के पुत्रों ने मृदंग तथा पणव के साथ-साथ अन्य राग-रागिनियों की कर्णप्रिय ध्वनि सुनी तो वे अत्यन्त विस्मित हुए।

तात्पर्य : सरोवर के निकट विभिन्न फूल तथा जीव तो थे ही, इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की राग-रागिनियाँ सुनाई पड़ रही थीं। कहाँ यह दृश्य! कहाँ निर्विशेषवादियों का अनेकरूपता से हीन

शून्यवाद! वास्तव में मनुष्य को सच्चिदानन्द की सिद्धि प्राप्त करनी होती है। चूँकि निर्विशेषवादी सृष्टि की इन विविध रूपों को स्वीकार नहीं करते, अत: वे दिव्य आनन्द का भोग नहीं कर सकते। प्रचेतागण जिस स्थान पर पहुँचे थे वह शिव का धाम था। निर्विशेषवादी सामान्यत: शिव के उपासक होते हैं, किन्तु शिवजी कभी-भी अपने धाम में विविधता के बिना नहीं रहते। इस प्रकार मनुष्य चाहे जहाँ जाये, चाहे शिव, विष्णु या ब्रह्म लोक को जाये, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण मनुष्यों को सर्वत्र अनेकरूपता (विचित्रता) दिखाई पड़ेगी।

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् ।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः ॥ २४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तर्हि—इतने में; एव—निश्चय ही; सरसः—जल से; तस्मात्—उसमें से; निष्क्रामन्तम्—निकलते हुए; सह-अनुगम्—महापुरुषों के साथ; उपगीयमानम्—अनुयायियों द्वारा वन्दित; अमर-प्रवरम्—देवताओं में प्रधान; विबुध-अनुगैः—अपने संगियों के साथ; तप्त-हेम—पिघला सोना; निकाय-आभम्—शारीरिक अंग; शिति-कण्ठम्—नीला कंठ; त्रि-लोचनम्—तीन नेत्र वाले; प्रसाद—दयालु; सु-मुखम्—सुन्दर चेहरा; वीक्ष्य—देखकर; प्रणेमुः—प्रणाम किया; जात—उत्पन्न हुआ; कौतुकाः—कुतूहल।

प्रचेतागण भाग्यवान थे कि उन्होंने प्रमुख देव शिवजी को उनके पार्षदों सहित जल से बाहर आते देखा। उनकी शारीरिक कान्ति तपे हुए सोने के समान थी, उनका कंठ नीला था और उनके तीन नेत्र थे जिनसे वे भक्तों पर कृपादृष्टि डाल रहे थे। उनके साथ अनेक गन्धर्व गायक थे, जो उनका गुणगान कर रहे थे। ज्यों ही प्रेचताओं ने शिवजी को देखा उन्होंने तुरन्त ही कुतूहलवश उन्हें नमस्कार किया और वे उनके चरणों पर गिर पड़े।

तात्पर्य : *विबुधानुगैः* शब्द बताता है कि शिवजी के साथ सदैव गन्धर्व तथा किन्नर जैसे स्वर्ग के वासी रहते हैं। ये सब संगीत में अत्यन्त पटु होते हैं और निरन्तर शिवजी की पूजा करते रहते हैं। चित्रों में शिवजी को सदैव श्वेत रंग का दिखाया जाता है, किन्तु यहाँ पर उनके शरीर का रंग श्वेत न होकर गलाये गये सोने या चमकीले पीले रंग का है। अत्यन्त दयालु होने के कारण शिवजी आशुतोष कहलाते हैं। देवताओं में से शिवजी को निम्नवर्ग के लोग भी प्रसन्न कर लेते हैं, उन्हें केवल बेलपत्र चढ़ाने तथा नमस्कार करने की आवश्यकता है। इस प्रकार उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है कि वे तुरन्त ही प्रसन्न होने वाले हैं।

सामान्यत: जो लोग भौतिक सम्पन्नता चाहते हैं, वे ऐसे वरदान के लिए शिवजी के पास जाते हैं, उनके अत्यन्त दयालु होने के कारण भक्तों को मनवांछित फल देते हैं। असुरगण उनकी इस उदारता का लाभ उठाते हैं और कभी-कभी उनसे ऐसा वर प्राप्त कर लेते हैं, जो अन्यों के लिए अत्यन्त घातक होता है। उदाहरणार्थ, वृकासुर ने शिवजी से ऐसा वर प्राप्त किया था जिसकि वह जिस किसी का सिर को छू देता उसका अन्त हो जाता था। यद्यपि कभी-कभी शिवजी अपने भक्तों को ऐसे उदारतापूर्वक वर प्रदान करते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि कभी-कभी असुरगण कपटी होने के कारण ऐसे वरों का दुरुपयोग करना चाहते हैं। उदाहारणार्थ, वृकासुर ने वर प्राप्त करके शिवजी के सिर का स्पर्श करना चाहा। किन्तु विष्णु के भक्त कभी-भी ऐसे वर की इच्छा नहीं रखते, न ही विष्णु अपने भक्तों को ऐसा वर देते हैं जिससे संसार भर में अशान्ति फैले।

स तान्प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञान्शीलसम्पन्नान्प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—शिवजी; तान्—उनको; प्रपन्न-आर्ति-हरः—सभी प्रकार के भयों को दूर करने वाला; भगवान्—ईश्वर; धर्म-वत्सलः—अत्यन्त धार्मिक; धर्म-ज्ञान्—धर्म से अवगत पुरुष; शील-सम्पन्नान्—अत्यन्त सदाचारी; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रीतान्—अत्यन्त भद्र आचरण वाला; उवाच—उनसे बातें की; ह—भूतकाल में।

शिवजी प्रचेताओं से अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि सामान्यत: शिवजी पवित्र तथा सदाचारी पुरुषों के रक्षक हैं। राजकुमारों से अत्यन्त प्रसन्न होकर वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु या कृष्ण *भक्तवत्सल* कहलाते हैं। यहाँ पर शिवजी को *धर्मवत्सल* कहा गया है। *धर्मवत्सल* उस व्यक्ति का द्योतक है, जो धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन बिताता है। फिर भी इन दो शब्दों का अतिरिक्त महत्त्व है। कभी-कभी शिवजी का पाला ऐसे व्यक्तियों से पड़ता है, जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं। ऐसे व्यक्ति सदैव ही धार्मिक नहीं होते और न उनके कार्य ही पवित्र होते हैं। चूँकि वे भौतिक लाभ से वशीभूत होकर शिवजी की उपासना करते हैं, अत: कभी-कभी वे धार्मिक नियमों का पालन करते हैं। जब शिवजी देखते हैं कि उनके भक्त धर्मानुसार चलते हैं, तो वे उन्हें आशीर्वाद दे देते हैं। प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेतागण स्वभाव से अत्यन्त पवित्र एवं भद्र थे, अत: शिवजी उन पर तुरन्त प्रसन्न हो गये। शिवजी समझ गये कि ये राजकुमार किसी वैष्णव के पुत्र हैं, अत: शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीरुद्र उवाच
यूयं वेदिषद: पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्र: उवाच—शिवजी बोले; यूयम्—तुम सब; वेदिषद:—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्रा:—पुत्र; विदितम्—जानते हुए; व:—तुम्हारी; चिकीर्षितम्—इच्छाएँ; अनुग्रहाय—तुम पर अनुग्रह के लिए; भद्रम्—तुम्हारा कल्याण हो; व:—तुम सभी; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; दर्शनम्—दर्शन; कृतम्—प्राप्त किया।

शिवजी ने कहा : तुम सभी प्राचीनबर्हि के पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो। मैं जानता हूँ कि तुम क्या करने जा रहे हो, अत: मैंने तुम पर कृपा करने के लिए ही अपना दर्शन दिया है।

तात्पर्य : इन शब्दों से शिव इंगित करते हैं कि जो कुछ राजकुमार करने वाले हैं, वह उन्हें पहले से ज्ञात है। वास्तव में वे कठिन तपस्या द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करने जा रहे थे। यह जानकर शिवजी तुरन्त ही अत्यधिक प्रसन्न हुए जैसाकि अगले श्लोक से विदित होगा। इससे सूचित होता है कि जो व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं है, किन्तु उनकी सेवा करना चाहता है उसे शिव जैसे प्रधान देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है, अत: भगवद्‍भक्त को अलग से देवताओं को प्रसन्न नहीं करना पड़ता। मात्र परमेश्वर की आराधना द्वारा वह उन सबों को प्रसन्न कर सकता है। उसे देवताओं से भी किसी भौतिक आशीर्वाद की याचना नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि देवतागण प्रसन्न होकर स्वत: सब कुछ प्रदान करते हैं। देवता तो भगवान् के दास हैं, अत: वे सभी प्रकार से भक्तों की सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। इसीलिए श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है कि यदि मनुष्य परमेश्वर की शुद्ध भक्ति करता है, तो भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले देवों की बात तो दूर रही मुक्ति की देवी तक उसकी सेवा के लिए तैयार रहती हैं। दरअसल, सभी देवता भक्त की सेवा करने का अवसर पाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अत: कृष्ण के भक्त को किसी ऐश्वर्य या मुक्ति के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह भक्ति के दिव्य पद पर रह कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के सारे लाभ प्राप्त करता है।

य: परं रंहस: साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्न: स प्रियो हि मे ॥ २८॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; परम्—दिव्य; रंहसः—नियामक का; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; त्रि-गुणात्—प्रकृति के तीनों गुणों से; जीव-संज्ञितात्—जीव कही जाने वाली जीवात्माओं से; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण का; प्रपन्नः—शरणागत; सः—वह; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; हि—निस्सन्देह; मे—मुझे।

शिवजी ने आगे कहा : जो व्यक्ति प्रकृति तथा जीवात्मा में से प्रत्येक के अधिष्ठाता भगवान् कृष्ण के शरणागत है, वह वास्तव में मुझे अत्यधिक प्रिय है।

तात्पर्य : अब शिवजी कारण बताते हैं कि वे राजकुमारों के समक्ष साक्षात् क्यों आये। कारण यह था कि सभी राजकुमार भगवान् कृष्ण के भक्त थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों में जो ज्ञानी होता है, वह मुझे सब कारणों का कारण जान कर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है।"

सामान्य पुरुषों को शिवजी विरले ही दर्शन देते हैं। इसी प्रकार वासुदेव कृष्ण की शरण में जाने वाले व्यक्ति भी विरले ही हैं, क्योंकि पूर्णतः भगवान् की शरण में आये हुए लोग दुर्लभ हैं (*स महात्मा सुदुर्लभः*)। फलतः शिवजी विशेष रूप से प्रचेताओं को देखने आये थे, क्योंकि वे सब भगवान् वासुदेव के पूर्णतः शरणागत थे। वासुदेव का उल्लेख भागवत के प्रारम्भिक मंत्र में भी हुआ है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* चूँकि वासुदेव चरम सत्य हैं, अतः शिवजी स्पष्ट कहते हैं कि जो भगवान् वासुदेव का भक्त है और श्रीकृष्ण का शरणागत है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् वासुदेव, कृष्ण न केवल सामान्य जनों द्वारा पूज्य हैं, वरन् शिव, ब्रह्मा तथा अन्य देवता भी उनकी पूजा करते हैं। *यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः* (भागवत १२.१३.१)—कृष्ण की पूजा ब्रह्मा, शिव, वरुण, इन्द्र, चन्द्र तथा अन्य सभी देवता करते हैं। यही हाल भक्तों का है। जो भी कृष्णभक्ति करता है, जो यह खोजने तथा समझने का प्रयास करता होता है कि कृष्णचेतना है क्या, वह तुरन्त उनका प्रिय बन जाता है। इसी प्रकार सभी देवता इसकी ताक में रहते हैं कि कौन सचमुच भगवान् वासुदेव की शरण में है। चूँकि प्रचेता राजकुमार वासुदेव के शरणागत थे, अतः शिवजी इच्छापूर्वक उनसे भेंट करने आये।

भगवद्गीता में भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम कहा गया है। वास्तव में वे भोक्ता (पुरुष) तथा परम (उत्तम) दोनों हैं। वे हर वस्तु—प्रकृति तथा पुरुष के भोक्ता हैं। प्रकृति के तीनों

गुणों के प्रभाव से जीवात्मा प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है, किन्तु वह वास्तविक भोक्ता (पुरुष) न होकर प्रकृति है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.५) में हुआ है—*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।* इस प्रकार जीव वास्तव में प्रकृति या परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। भौतिक शक्ति (माया) के संग होने से वह प्रकृति पर अधिकार करना चाहता है। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध संसार में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंगस्वरूप हैं। वे बद्ध जीवन के कारण मन समेत छहों इन्द्रियों से संघर्ष करती रहती हैं।''

प्रकृति पर अधिकार करने की चेष्टा में जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करता है। दरअसल सुखोपभोग के लिए वह इतना कठिन श्रम करता है कि भौतिक साधनों का ठीक से उपभोग भी नहीं कर पाता। अत: वह कभी-कभी जीव या प्रकृति कहलाता है, क्योंकि वह तटस्था शक्ति में स्थित होता है। जब जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों से आच्छादित होता है, तो *जीव-संज्ञिता* कहलाती है। जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं—*क्षर* तथा *अक्षर*। *क्षर* वे हैं, जो च्युत होकर बद्ध हो गई हैं और *अक्षर* वे हैं, जो बद्ध नहीं हैं। अधिकांश जीवात्माएँ आध्यत्मिक जगत में रहती हैं और *अक्षर* कहलाती हैं। वे ब्रह्म पद पर होती हैं। वे तीनों गुणों से बद्ध जीवात्माओं से भिन्न होती हैं।

क्षर तथा *अक्षर* इन दोनों से ऊपर होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव को *भगवद्गीता* (१५.१८) में *पुरुषोत्तम* कहा गया है। निर्विशेषवादी वासुदेव को निर्गुण ब्रह्म बताते हैं, किन्तु वास्तव में निर्गुण ब्रह्म कृष्ण के अधीन होता है, जिसकी पुष्टि भी *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।* *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में भी पुष्टि हुई है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण ब्रह्म के स्रोत हैं—*यस्य प्रभा प्रभावतो जगदण्डकोटि।* निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण के शारीरिक तेज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इस तेज की किरणों में असंख्य ब्रह्माण्ड तैर रहे हैं। इस तरह सभी प्रकार से वासुदेव कृष्ण परमेश्वर हैं और शिवजी भगवान् के शरणागतों पर परम प्रसन्न रहते हैं। श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि समर्पण पूर्णत: हो जैसाकि *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में उन्होंने इंगित किया है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

साक्षात् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित भक्त तो अनेक हैं, किन्तु वास्तव में वे केवल कर्मी तथा ज्ञानी होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त नहीं होते। कभी-कभी कर्मी अपने कर्म का कर्मफल वासुदेव को अर्पित कर देते हैं, जो *कर्मार्पणम्* कहलाता है। ये सकाम कर्म माने जाते हैं, क्योंकि कर्मीजन भगवान् विष्णु को भी शिव तथा ब्रह्मा जैसा देवता मानते हैं। चूँकि वे विष्णु को देवताओं के समान पद पर मानते हैं, अतः उनके अनुसार देवताओं के प्रति समर्पण वासुदेव के प्रति समर्पण जैसा है। किन्तु यहाँ पर इस मत का तिरस्कार हुआ हैं, क्योंकि यदि यह सत्य होता तो शिवजी कहते कि मुझमें, वासुदेव, विष्णु या ब्रह्मा में समर्पण एक ही है। किन्तु शिवजी ऐसा नहीं कहते, क्योंकि वे स्वयं वासुदेव की शरण में जाते हैं और जो कोई भी वासुदेव की शरण में जाता है, वह उन्हें परम प्रिय है। यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। निष्कर्ष यह है कि शिव का भक्त शिव को प्रिय नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण का भक्त शिव को अत्यन्त प्रिय है।

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-निष्ठः—जो अपने धर्म या वृत्ति पर स्थित रहता है; शत-जन्मभिः—एक सौ जन्मों तक; पुमान्—जीवात्मा; विरिञ्चताम्—ब्रह्मा का पद; एति—प्राप्त करता है; ततः—पश्चात्; परम्—ऊपर; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको प्राप्त करता है; अव्याकृतम्—बिना विचलित हुए; भागवतः—भगवान् को; अथ—अतः; वैष्णवम्—भगवान् का शुद्ध भक्त; पदम्—पद; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; विबुधाः—देवतागण; कला-अत्यये—संसार के संहार के बाद।

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म को समुचित रीति से एक सौ जन्मों तक निबाहता है, वह ब्रह्मा के पद को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है और इससे अधिक योग्य होने पर वह शिवजी के पास पहुँच सकता है। किन्तु जो व्यक्ति अनन्य भक्तिवश सीधे भगवान् कृष्ण या विष्णु की शरण में जाता है, वह तुरन्त वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है। शिवजी तथा अन्य देवता इस संसार के संहार के बाद ही इन लोक को प्राप्त कर पाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में विकास-प्रक्रम की चरम परिणति सम्बन्धी विचार प्रस्तुत हुआ है। जैसाकि वैष्णव कवि जयदेव गोस्वामी ने कहा है—*प्रलय पयोधि जले धृतवान् असि वेदम्।* आइये, हम विकास-प्रक्रम की खोज को प्रलय से प्रारम्भ करें। जिस समय सारा ब्रह्माण्ड जल से पूरित था।

उस समय अनेक मछलियाँ तथा अन्य जलचर थे, इनसे ही लताओं तथा वृक्षों का विकास हुआ। फिर इनसे कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृपों का विकास हुआ, जिनसे पक्षी, पशु तथा मनुष्य और अन्त में सभ्य मानव का विकास हुआ। अब सभ्य मानव ऐसे चौराहे पर है जहाँ से वह आध्यात्मिक जीवन में आगे विकास कर सकता है। यहाँ यह कहा गया है कि जब जीव को जीवन का सभ्य रूप प्राप्त होता है, तो *स्वधर्म,* अर्थात् अपने कर्म तथा गुणों के अनुसार उसमें सामाजिक श्रेणियाँ होनी चाहिए (*स्वधर्मनिष्ठः*)। *भगवद्गीता* (४.१३) में इसका संकेत है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

''प्रकृति के तीनों गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार मैंने मानव-समाज के चारों वर्णों की सृष्टि की।''

सभ्य मानव-समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण होने चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म करना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है (*स्वधर्मनिष्ठः*) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि कोई अपने पद पर अटल रहे और अपने विशिष्ट कार्य को करे तो वह सभ्य मनुष्य समझा जाता है। अन्यथा वह पशु तुल्य है। यहाँ यह भी कहा गया है कि जो भी स्वधर्म को एक सौ जन्मों तक सम्पन्न करता है (उदाहरणार्थ, ब्राह्मण एक ब्राह्मण की तरह कर्म करता रहता है) वह ब्रह्मलोक में जाने का अधिकारी बन जाता है। इसी तरह शिवलोक या सदाशिवलोक भी है, जो आध्यात्मिक तथा भौतिक (मर्त्य) जगत की सीमा पर स्थित है। यदि ब्रह्मलोक में स्थित रहने के बाद कोई अधिक योग्य बन जाता है, तो वह सदाशिवलोक को भेज दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई और भी योग्य हो जाता है, तो वह वैकुण्ठलोक जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का, यहाँ तक कि देवताओं का भी, लक्ष्य वैकुण्ठलोक प्राप्त करना रहता है और एक निष्काम भक्त यदि भौतिक लाभ की इच्छा न रखता हो, तो इसे पा लेता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में संकेत है, कोई भले ही ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त कर ले, किन्तु भौतिक कष्टों से उसे छुटकारा नहीं मिल पाता (*आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। इसी प्रकार शिवलोक तक पहुँच कर भी मनुष्य सुरक्षित नहीं रहता, क्योंकि शिवलोक तटस्थ है। किन्तु यदि कोई वैकुण्ठलोक को प्राप्त कर लेता है, तो उसे जीवन की परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है और उसका विकास-प्रक्रम समाप्त हो

जाता है (*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*)। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि मानव-समाज में जिस व्यक्ति ने चेतना विकसित कर ली है उसे कृष्ण-भक्ति करनी चाहिए जिससे वह इस शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जा सके। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (भगवद्गीता ४.९)। जो भक्त कृष्णभक्ति करता है और जो ब्रह्मलोक या शिवलोक जैसे किसी भी लोक से आकृष्ट नहीं होता वह कृष्णलोक को भेज दिया जाता है (*मामेति*) यही जीवन की तथा विकास-प्रक्रम की चरम परिणति है।

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान्यथा ।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; भागवताः—भक्त; यूयम्—तुम सब; प्रियाः—प्रिय; स्थ—तुम हो; भगवान्—भगवान्; यथा—जिस तरह; न—न तो; मत्—मेरी अपेक्षा; भागवतानाम्—भक्तों का; च—भी; प्रेयान्—अत्यन्त प्रिय; अन्यः—दूसरा; अस्ति—है; कर्हिचित्—किसी समय, कभी।

तुम सभी भगवान् के भक्त हो, अतः तुम मेरे लिए भगवान् के समान पूज्य हो। इस प्रकार से मैं यह जानता हूँ कि भक्त भी मेरा आदर करते हैं और मैं उन्हें प्यारा हूँ। इस प्रकार भक्तों को मेरे समान अन्य कोई प्रिय नहीं हो सकता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी समस्त भक्तों में श्रेष्ठ हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के सारे भक्त शिवजी के भी भक्त हैं। वृन्दावन में शिवजी का एक मन्दिर है, जिसे गोपीश्वर कहते हैं। गोपियाँ न केवल शिव की उपासना करती थीं, अपितु कात्यायनी या दुर्गा की भी। किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण की कृपापात्र बनना था। भगवान् कृष्ण का भक्त शिव का कभी भी अनादर नहीं करता, प्रत्युत कृष्ण के परम भक्त के रूप में उनकी पूजा करता है। अतः जब भी कोई भक्त शिव की आराधना करता है, तो वह उनसे उसे कृष्ण का कृपाभाजन बनाने की प्रार्थना करता है, वह उनसे भौतिक लाभ नहीं माँगता। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है कि सामान्यतः लोग देवताओं की पूजा भौतिक लाभ के लिए करते हैं। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः* / काम के वशीभूत होकर वे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु भक्त ऐसा नहीं करता, क्योंकि वह कामाभिभूत कभी नहीं होता। शिवजी के लिए किसी भक्त के और असुर के आदर में यही अन्तर होता है। असुर शिव की पूजा करता है, वह कोई-न-कोई वर प्राप्त करता है, उसका दुरुपयोग करता है और अन्त में भगवान् के हाथों मारा जाता है।

भगवान् ही उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

चूँकि शिवजी भगवान् के महान् भक्त हैं, इसीलिए वे भगवान् के सभी भक्तों को प्यार करते हैं। शिवजी ने प्रचेताओं को बताया कि भगवान् के भक्त होने के कारण वे उन्हें प्रिय हैं। शिवजी केवल प्रचेताओं पर ही दयालु नहीं थे, उन्हें तो भगवान् का कोई भी भक्त प्रिय है। भक्तगण शिव को प्रिय ही नहीं हैं, अपितु वे उनके द्वारा भगवान् के समान ही आदरित होते हैं। इसी प्रकार भगवान् के भक्त भी शिव की पूजा भगवान् कृष्ण के परम प्रिय भक्त के रूप में करते हैं। वे उन्हें पृथक् से भगवान् के रूप में नहीं पूजते। नाम-अपराधों की सूची में यह उल्लेख है कि हर अर्थात् शिव के नाम जप को हरि के समान मानना अपराध है। भक्तों को जानना चाहिए कि विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और शिवजी उनके भक्त हैं। भक्त का आदर भगवान् के ही समान किया जाना चाहिए और कभी-कभी तो उनसे भी बढ़कर। दरअसल, स्वयं भगवान् राम ने कभी शिव की पूजा की थी। यदि भगवान् भक्त की पूजा करते हैं, तो फिर एक भक्त दूसरे भक्त की भगवान् के समान पूजा क्यों नहीं कर सकता? यही निष्कर्ष है। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि शिवजी असुरों को औपचारिकता वश आशीर्वाद देते हैं। वास्तव में उन्हें भगवान् का ही भक्त प्यारा है।

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; विविक्तम्—विशेष; जप्तव्यम्—सदैव जप करने के लिए; पवित्रम्—अत्यन्त शुद्ध; मङ्गलम्—कल्याणकर; परम्—दिव्य; निःश्रेयस-करम्—अत्यन्त उपयोगी; च—भी; अपि—निश्चय ही; श्रूयताम्—कृपा करके सुनें; तत्—वह; वदामि—मैं कह रहा हूँ; वः—तुमसे।

अब मैं एक मंत्र का उच्चारण करूँगा जो न केवल दिव्य, पवित्र तथा शुभ है वरन् जीवन-उद्देश्य को प्राप्त करने के इच्छुक हर एक के लिए यही श्रेष्ठ स्तुति भी है। जब मैं इस मंत्र का उच्चारण करूँ तो तुम सब सावधानी से ध्यानपूर्वक सुनना।

तात्पर्य : *विविक्तम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिव द्वारा सुनायी गई इस स्तुति को सम्प्रदायपरक नहीं समझना चाहिए, अपितु इसे अत्यन्त रहस्यात्मक मानकर समृद्धि प्राप्त करने या शुभ जीवन-लक्ष्य के लिए शिव के आदेशों का पालन करना चाहिए और भगवान् की स्तुति तथा महिमा का गान उसी तरह करना चाहिए जैसाकि स्वयं शिवजी ने किया।

मैत्रेय उवाच
इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन्राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अनुक्रोश-हृदयः—अत्यन्त दयालु, करुणाई; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; तान्—प्रचेताओं से; शिवः—शिवजी; बद्ध-अञ्जलीन्—हाथ जोड़े खड़े हुए; राज-पुत्रान्—राजा के पुत्रों को; नारायण-परः—नारायण के भक्त, शिवजी; वचः—शब्द।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : भगवान् नारायण के परम भक्त महापुरुष शिवजी अहैतुकी कृपावश हाथ जोड़ कर खड़े हुए राजा के पुत्रों से कहते रहे।

तात्पर्य : शिवजी स्वेच्छा से राजपुत्रों को आशीर्वाद देने और उनके हित में कुछ करने आये थे। उन्होंने स्वयं मंत्र का उच्चारण किया जिससे कि मंत्र की शक्ति बढ़ती रहे। उन्होंने राजपुत्रों को इस मंत्र को जपने का आदेश दिया। जब कोई मंत्र किसी महान् भक्त द्वारा उच्चरित होता है, तो वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है। यद्यपि हरे कृष्ण महामंत्र स्वयं शक्तिशाली है, किन्तु दीक्षा के समय गुरु शिष्य को मंत्र देता है, क्योंकि गुरु द्वारा उच्चरित होने से मंत्र अधिक शक्तिशाली बन जाता है। शिवजी ने राजपुत्रों से मंत्र को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए कहा, क्योंकि मन लगाये बिना मंत्र सुनना अपराध है।

श्रीरुद्र उवाच
जितं त आत्मविद्वर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।
भवताराधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; जितम्—समस्त महिमाएँ, उत्कर्ष; ते—तुम्हारे; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध; वर्य—श्रेष्ठ; स्वस्तये—कल्याण के लिए; स्वस्तिः—कल्याण; अस्तु—हो; मे—मेरा; भवता—आपसे; आराधसा—सब विधि से पूर्ण (सर्वात्मक) द्वारा; राद्धम्—पूज्य; सर्वस्मै—परमात्मा; आत्मने—परमात्मा को; नमः—नमस्कार है।

शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार स्तुति की: हे भगवान्, आप धन्य हैं। आप सभी स्वरूपसिद्धों में महान् हैं चूंकि आप उनका सदैव कल्याण करने वाले हैं, अतः आप मेरा भी कल्याण करें। आप अपने सर्वात्मक उपदेशों के कारण पूज्य हैं। आप परमात्मा हैं, अतः पुरुषोत्तम स्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही भक्त भगवान् की स्तुति के लिए प्रोत्साहित होता है त्योंहीं वह प्रारम्भ में इस प्रकार बोलते हुए स्तुति करने लगता है—"हे भगवान् आप धन्य हैं।" भगवान् की महिमा का गान

इसलिए किया जाता है, क्योंकि वे स्वरूपसिद्ध पुरुषों में प्रधान माने जाते हैं। जैसाकि वेदों में (कठोपनिषद् २.२.१३) में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परम पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त जीवों में प्रधान पुरुष हैं। जीव कई प्रकार के होते हैं—कुछ तो इस भौतिक जगत में रहते हैं और कुछ वैकुण्ठलोक में। जो वैकुण्ठलोक में रहते हैं, वे पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध होते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर जीव भगवान् की सेवा करना नहीं भूलता। अत: वैकुण्ठलोक में भगवान् की भक्ति करने वाले सारे लोग शाश्वत स्थिर रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर की स्थिति के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति से भी परिचित होते हैं। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध जीवों में भगवान् परम स्वरूपसिद्ध पुरुष कहलाते हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* जब जीव भगवान् को परम पुरुष समझने में स्थिर हो जाता है, तो वास्तव में वह सर्वकल्याणमय स्थिति पर स्थिर हो जाता है। यहाँ पर शिवजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की कृपा से उनका शुभ स्थान सदैव बना रहे।

परमेश्वर सभी प्रकार से पूर्ण हैं और उनका यही उपदेश है कि जो उन्हें पूजता है, वह भी पूर्ण हो जाता है। जैसाकि भगवद्‌गीता (१५.१५) में कहा गया है—*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, किन्तु वे अपने भक्तों पर इतने दयालु रहते हैं कि उनकी सतत उन्नति के लिए उन्हें उपदेश देते रहते हैं। जब वे सर्व-परिपूर्ण से उपदेश ग्रहण करते हैं, उनके भ्रमित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसकी पुष्टि भगवद्‌गीता (१०.१०) में इस प्रकार हुई है—*ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते।* भगवान् शुद्ध भक्त को उपदेश देने के लिए सतत उद्यत रहते हैं जिससे वह भक्ति में उन्नति करता चले। चूँकि भगवान् *सर्वात्मा* के रूप में उपदेश देते हैं, अत: शिवजी उन्हें *सर्वात्मा आत्मने नम:* करके सम्मान अपर्ण करते हैं। व्यष्टि जीव आत्मा कहलात है और भगवान् आत्मा तथा परमात्मा दोनों हैं। प्रत्येक हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् परम-आत्मा कहलाते हैं। अत: उन्हें सभी नमस्कार करते हैं। इस प्रसंग में *श्रीमद्‌भागवत* के प्रथम स्कंध (१.८.२०) में कुन्ती की स्तुति का उल्लेख किया जा सकता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रिय:॥

परमहंसों को उपदेश देने के लिए भगवान् सदैव उद्यत रहते हैं, क्योंकि वे संसार के कल्मषों से

पूर्ण रूप से मुक्त होते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों को यह बतलाने के लिए कि भक्ति में कैसे स्थिर रहा जाये उपदेश देते हैं। इसी प्रकार *भागवत* (१.७.१०) में आत्माराम श्लोक में कहा गया है—

आत्मारामश्‍च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम शब्द भौतिक जगत से विरक्त होकर आत्म-साक्षात्कार में लगे रहने वालों के लिए आया है। ऐसे स्वरूपसिद्ध पुरुष सामान्यत: दो प्रकार के होते हैं—*सगुण* तथा *निर्गुण।* किन्तु निर्विशेषवादी भी भगवान् के वैयक्तिक दिव्य गुणों के प्रति आकृष्ट होने पर भक्त बन जाते हैं। निष्कर्षत: शिवजी भगवान् वासुदेव के स्थिर भक्त बने रहना चाहते थे। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है शिवजी कभी-भी निर्विशेषवादियों की तरह परमेश्वर से तादात्म्य नहीं चाहते, अपितु वे इसे अपना सौभाग्य मानते हैं कि वे परम पुरुष रूपी भगवान् की भक्ति में स्थिर बने रहें। इसी ज्ञान से मनुष्य यह समझ पाता है कि सभी जीवात्माएँ, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं, परमेश्वर के दास हैं।

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; पङ्कज-नाभाय—उन भगवान् को जिनकी नाभि से कमल प्रकट होता है; भूत-सूक्ष्म—इन्द्रिय वस्तुएँ (तन्मात्रा); इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मने—उत्पत्ति; वासुदेवाय—भगवान् वासुदेव को; शान्ताय—सदैव शान्त रहने वाले को; कूट-स्थाय—अपरिवर्तित रहने वाले को; स्व-रोचिषे—स्वयं प्रकाश को।.

हे भगवान्, आपकी नाभि से कमल पुष्प निकलता है, इस प्रकार से आप सृष्टि के उद्गम हैं। आप इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के नियामक हैं। आप सर्वव्यापी वासुदेव भी हैं। आप परम शान्त हैं और स्वयंप्रकाशित होने के कारण आप छह प्रकार के विकारों से विचलित नहीं होते।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु गर्भोदक में शयन करते हैं और उनकी नाभि से कमल का फूल निकलता है। इस फूल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा इस संसार की सृष्टि आरम्भ करते हैं। इस प्रकार गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के उद्गम हैं। चूँकि शिवजी अपने आपको इस संसार के पदार्थों में से एक मानते हैं, अत: उनकी इन्द्रियाँ परम स्रष्टा के अधीन हैं। परमेश्वर को हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी भी कहा जाता है, जिससे सूचित होता है कि हमारी

इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं। अत: वे हमारी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं और अपने अनुग्रहवश अपनी सेवा में प्रवृत्त करते हैं। बद्ध अवस्था में, जीवात्मा इस संसार में संघर्ष करता है और भौतिक तुष्टि में इन्द्रियों को लगाता है। यदि परमात्मा की अनुकम्पा हो गई तो वह इन्हीं इन्द्रियों को भगवद्भक्ति में लगा सकता है। शिवजी भौतिक इन्द्रियों द्वारा पथभ्रष्ट न होकर भौतिक कल्मष से दूर रहते हुए उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहते हैं। भगवान् वासुदेव की कृपा होने पर जो सर्वव्यापक हैं, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बिना विचलन के भक्ति में लगा सकता है जैसे भगवान् विचलित हुए बिना कार्य करते हैं।

इस श्लोक का *शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे* अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में विद्यमान रहकर भी भगवान् भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते हैं। किन्तु बद्धजीव छह प्रकार के विकारों से विचलित होते हैं। ये हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु। यद्यपि बद्धजीव इन सबसे बहुत जल्दी प्रभावित होता है, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् वासुदेव इनसे कभी विचलित नहीं होते। इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि वे सदैव शान्त (*कूटस्थाय*) तथा अपने कौशल्य के कारण अविचल रहते हैं, जिसे यहाँ *स्वरोचिषे* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे अपनी दिव्य स्थिति के कारण स्वयंप्रकाशित होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव यद्यपि वह परमेश्वर के प्रकाश में होता है, कभी-कभी परमेश्वर के प्रकाश से अपनी क्षुद्र स्थिति के कारण नीचे गिरकर भौतिक बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। किन्तु भगवान् इस प्रकार बद्ध नहीं होते, इसीलिए उन्हें स्वयंप्रकाशित कहा गया है। फलत: वासुदेव की शरण में रहकर या भक्ति में प्रवृत्त होकर इस संसार में कोई भी बद्धजीव पूर्ण रह सकता है।

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सङ्कर्षणाय—निर्माण (समन्वय) के स्वामी को; सूक्ष्माय—सूक्ष्म रूप या अव्यक्त को; दुरन्ताय—दुर्लंघ्य को; अन्तकाय—संहार के स्वामी को; च—भी; नम:—नमस्कार; विश्व-प्रबोधाय—ब्रह्माण्ड का विकास करने वाले को; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अन्त:-आत्मने—घट-घट वासी परमात्मा को।

हे भगवान्, आप सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों के उद्गम, समस्त संघटन और संहार के स्वामी, संकर्षण नामक अधिष्ठाता तथा समस्त बुद्धि के अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। अत: मैं आपको सादर

नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संकर्षण नाम से जाने वाले परमेश्वर की संघटनकारी शक्ति से चल रहा है। भौतिक विज्ञानी भले ही गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज कर चुके हों जिससे भौतिक शक्ति से पदार्थों का संघटन होता है, किन्तु समस्त संघटनों का स्वामी अपने मुख से निकलने वाली प्रज्ज्वलित अग्नि से प्रलय (संहार) भी कर सकता है। इसका वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में मिलता है, जिसमें भगवान् के विराट रूप का वर्णन है। अपनी संहारक शक्ति के कारण संघटन का स्वामी इस संसार का संहारकर्ता भी है। संकर्षण संघटन तथा संहार के अधिष्ठाता हैं, जबकि भगवान् वासुदेव के एक अन्य *रूप* प्रद्युम्न इस विश्व की वृद्धि तथा उसकी स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। *सूक्ष्माय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर यथा मन, बुद्धि तथा अहंकार वास करते हैं। भगवान् अपने विविध रूपों (वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा संकर्षण) में इस संसार में स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों को बनाये रखते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल तत्त्व हैं, जबकि मन, बुद्धि तथा अहंकार सूक्ष्म तत्त्व हैं। ये सभी भगवान् द्वारा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में नियंत्रित होते हैं और इसका और आगे वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया जाएगा।

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नमः—आपको नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी; इन्द्रिय-आत्मने—इन्द्रियों के नियामक को; नमः—नमस्कार है; परम-हंसाय—परमहंस को; पूर्णाय—परम पूर्ण को; निभृत-आत्मने—उसे जो इस जगत से अलग स्थित है।

हे परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध रूप भगवान्, आप इन्द्रियों तथा मन के स्वामी हैं। अतः मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ। आप अनन्त तथा साथ ही साथ संकर्षण कहलाते हैं, क्योंकि अपने मुख से निकलने वाली धधकती हुई अग्नि से आप सारी सृष्टि का संहार करने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : *हृषीकेशेन्द्रियात्मने*—मन इन्द्रियों का स्वामी है और अनिरुद्ध मन के अधिष्ठाता हैं। भक्ति करने के लिए मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है, अतः शिवजी मन के अधिष्ठाता

अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे प्रसन्न हों जिससे उनका मन भगवान् के चरणकमलों में लगे। भगवद्गीता (९.३४) में कहा गया है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* भक्ति करने के लिए मन को भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में लगाना होता है। भगवद्गीता (१५.१५) में यह भी कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति आते हैं। अत: यदि भगवान् अनिरुद्ध प्रसन्न हो जाँय तो भगवान् की भक्ति में मन लगाने में सहायता मिलती है। इस श्लोक में यह भी इंगित है कि अनिरुद्ध अपने विस्तार स्वरूप से सूर्यदेव भी हैं। चूँकि सूर्यदेव भगवान् अनिरुद्ध के ही विस्तार हैं, अत: इस श्लोक में शिवजी सूर्यदेव की भी स्तुति करते हैं।

भगवान् कृष्ण अपने चतुर्मुखी विस्तार (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) के कारण मानसिक क्रियाओं—सोचना, अनुभव करना, इच्छा करना तथा कर्म करना—के भी स्वामी हैं। शिवजी अनिरुद्ध की सूर्यदेव के रूप में स्तुति करते हैं, जो बाह्य भौतिक *तत्त्वों* के अधिष्ठाता हैं जिनसे यह शरीर बनता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *परमहंस* शब्द सूर्यदेवता का अन्य नाम है। यहाँ पर सूर्यदेव को *निभृतात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है, जो इस बात का सूचक है कि वर्षा के द्वारा वह विभिन्न लोकों का पालन करते हैं। सूर्यदेव समुद्रों के जल को भाप में बदल कर बादल बनाते हैं और फिर जल को सारी भूमि पर वितरित करते हैं। पर्याप्त वर्षा होने से अन्न उत्पन्न होता है, जिससे प्रत्येक लोक के जीवों का भरण होता है। सूर्यदेव को भी यहाँ *पूर्ण* कहा गया है, क्योंकि सूर्य से निस्सृत किरणों का कोई अन्त नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही करोड़ों वर्षों से सूर्यदेव बिना किसी कमी के ताप तथा प्रकाश प्रदान करते रहे हैं। *परमहंस* शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो पूर्ण रूप से विमल हैं। जब प्रचुर सूर्य प्रकाश (धूप) होता है, तो मन स्वच्छ तथा पारदर्शी रहता है। दूसरे शब्दों में, सूर्यदेव जीवात्मा के मन को परमहंस-पद पर स्थित होने में सहायक होते हैं। शिवजी अनिरुद्ध से अपने ऊपर दयालु होने की प्रार्थना करते हैं, जिससे उनका मन सदैव विमल रहे और भगवान् की भक्ति में लगा रहे। जिस प्रकार अग्नि समस्त मलिन वस्तुओं को शुद्ध करती है, उसी प्रकार सूर्य भी प्रत्येक वस्तु को शुद्ध बनाता है, विशेष रूप से मन के मैल को शुद्ध करता है, जिससे मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करने के स्तर पर उठ सकता है।

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्ग—मोक्ष का मार्ग; द्वाराय—द्वार को; नित्यम्—शाश्वत; शुचि-षदे—परम पवित्र को; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; हिरण्य—स्वर्ण; वीर्याय—वीर्य को; चातु:-होत्राय—चातुर्होत्र नामक वैदिक यज्ञ को; तन्तवे—विस्तार करने वाले को।

हे भगवान् अनिरुद्ध, आपके आदेश से स्वर्ग तथा मोक्ष के द्वार खुलते हैं। आप निरन्तर जीवों के शुद्ध हृदय में निवास करते हैं, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप स्वर्ण सदृश वीर्य के स्वामी हैं और इस प्रकार आप अग्नि रूप में चातुर्होत्र इत्यादि वैदिक यज्ञों में सहायता करते हैं। अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *स्वर्ग* शब्द स्वर्गलोक का सूचक है और *अपवर्ग* का अर्थ है मोक्ष। जो लोग वेदों में वर्णित कर्मकाण्डीय कर्मों में लगे रहते हैं, वे वास्तव में प्रकृति के तीन गुणों से बँध जाते हैं। अतः भगवद्गीता का कथन है कि मनुष्य को सकाम कर्मों के प्रक्षेत्र से ऊपर उठकर रहना चाहिए। मुक्ति कई प्रकार की होती है। सर्वश्रेष्ठ मुक्ति तो परमेश्वर की भक्ति में प्रवृत्त होना है। भगवान् अनिरुद्ध न केवल सकाम कर्मियों को उच्चतर लोकों में पहुँचने में सहायक होते हैं, अपितु अपनी अक्षय शक्ति से भक्त को भक्ति में प्रवृत्त कराते हैं। जिस प्रकार ताप भौतिक शक्ति का स्रोत है उसी प्रकार भगवान् अनिरुद्ध का प्रोत्साहन वह शक्ति है, जिससे मनुष्य भक्ति करने में प्रवृत्त हो सकता है।

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; ऊर्जे—पितृलोक के पोषक को; इषे—समस्त देवताओं का भरण करने वाला; त्रय्याः—तीनों वेदों के; पतये—स्वामी को; यज्ञ—यज्ञ; रेतसे—चन्द्रलोक के प्रमुख श्रीविग्रह को; तृप्ति-दाय—उनको जो सबों को तृप्त करते हैं; च—भी; जीवानाम्—जीवात्माओं का; नमः—नमस्कार है; सर्व-रस-आत्मने—सर्वव्यापी परमात्मा को।

हे भगवन्, आप पितृलोक तथा सभी देवताओं के भी पोषक हैं। आप चन्द्रमा के प्रमुख श्रीविग्रह और तीनों वेदों के स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप समस्त जीवात्माओं की तृप्ति के मूल स्रोत हैं।

तात्पर्य : जब जीव इस जगत में जन्म लेता है, विशेषतः मनुष्य के रूप में, तो देवताओं, साधु पुरुषों तथा सामान्य जीवों के प्रति उसके कई ऋण होते हैं। शास्त्रों का वचन है—*देवर्षिभूताप्तनृणां*

पितृणाम्। इस प्रकार उसका अपने पूर्वजों के प्रति भी ऋण होता है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि मुझे शक्ति दीजिये, जिससे मैं पितरों, देवों, सामान्य जीवों तथा साधुओं के प्रति अपने ऋणों से उऋण हो सकूँ और अपने आपको पूर्ण रूप से भगवान् की भक्ति में लगा सकूँ। जैसाकि *भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

मनुष्य भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त होने से देवताओं, साधु पुरुषों, पितरों, पूर्वजों आदि के ऋण से मुक्त हो जाता है। इसीलिए शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें शक्ति प्रदान करें जिससे वे सभी ऋणों से मुक्त होकर भगवद्भक्ति में पूर्णरूपेण तत्पर हो सकें।

जीव को जीभ से भोजन का जो स्वाद मिलता है उसके लिए सोम अर्थात् चन्द्रमा का श्रीविग्रह उत्तरदायी है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी शक्ति दें जिससे वे जीभ से भगवान् के प्रसाद के अतिरिक्त अन्य किसी का स्वाद न लें। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने एक श्लोक में लिखा है कि समस्त इन्द्रियों में जीभ ही सबसे दुर्जेय शत्रु है। जीभ पर नियंत्रण पाने से अन्य सभी इन्द्रियाँ वश में की जी सकती हैं और जीभ केवल श्रीविग्रह को अर्पित प्रसाद ग्रहण करने से वश में की जा सकती है। शिवजी द्वारा अनिरुद्ध से जो प्रार्थना की गई वह इसी प्रयोजन के लिए है (*तृप्ति-दाय*); वे उनसे यही प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी सहायता करें जिससे वे भगवान् को अर्पित प्रसाद को ग्रहण करके प्रसन्न रह सकें।

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सह ओजोबलाय च ॥ ३९॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व; आत्म—जीव; देहाय—शरीर को; विशेषाय—विभिन्नता को; स्थवीयसे—भौतिक संसार को; नमः—नमस्कार; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों के; पालाय—पालक; सह—के साथ; ओजः—ओज; बलाय—बल (शक्ति) को; च—भी।

हे भगवान्, आप विराटस्वरूप हैं जिसमें समस्त जीवात्माओं के शरीर समाहित हैं। आप

तीनों लोकों के पालक हैं, फलतः आप मन, इन्द्रियों, शरीर तथा प्राण का पालन करने वाले हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जिस प्रकार जीवात्मा का शरीर असंख्य कोषों, कीटाणुओं तथा जीवाणुओं से बना है उसी प्रकार भगवान् का विराट शरीर में समस्त जीवों के शरीर समाहित हैं। शिवजी उस विराट शरीर की प्रार्थना कर रहे हैं जिसमें अन्य समस्त शरीर सम्मिलित हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सशरीर भक्ति कर सके। चूँकि यह शरीर इन्द्रियों से बना है, अतः समस्त इन्द्रियों को भक्ति में लगाना चाहिए। उदाहरणार्थ, नाक को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्धि ले, हाथों को चाहिए कि भगवान् के मन्दिर को बुहारे, इत्यादि। निस्सन्देह, प्रत्येक जीवात्मा का प्राण होने के कारण भगवान् तीनों लोकों के पालक हैं, अतः वे प्रत्येक जीवात्मा को पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक शक्ति के साथ-साथ जीवन को वास्तविक कर्म में प्रवृत्त करा सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा को अपने प्राण (जीवन), अर्थ (धन), बुद्धि तथा वाणी से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (१०.२२.३५) में आया है—

एतावज्जन्म साफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेयआचरणं सदा॥

यदि कोई भगवद्भक्ति करना भी चाहे तो भगवान् की आज्ञा के बिना वह ऐसा नहीं कर सकता। शिवजी जीवात्माओं को यह दिखाने के लिए कि भक्ति कैसे की जाती है, इतनी प्रकार से प्रार्थना कर रहे हैं।

अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अर्थ—तात्पर्य; लिङ्गाय—प्रकट करने हेतु; नभसे—आकाश को; नमः—नमस्कार; अन्तः—भीतर; बहिः—तथा बाहर; आत्मने—अपने आपको; नमः—नमस्कार; पुण्याय—पुण्य कर्मों को; लोकाय—सृष्टि के लिए; अमुष्मै—मृत्यु के परे; भूरि-वर्चसे—परम तेज।

हे भगवान्, आप अपनी दिव्य वाणी (शब्दों) को प्रसारित करके प्रत्येक वस्तु का वास्तविक अर्थ प्रकट करने वाले हैं। आप भीतर-बाहर सर्वव्याप्त आकाश हैं और इस लोक में तथा इससे परे किये जाने वाले समस्त पुण्यकर्मों के परम लक्ष्य हैं। अतः मैं आपको पुनः पुनः

सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक प्रमाण *शब्द-ब्रह्म* कहलाता है। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के निरीक्षण से परे हैं, किन्तु शब्द का प्रामाणिक साक्ष्य पूर्ण है। वेद *शब्द-ब्रह्म* कहलाते हैं, क्योंकि वेदों का प्रमाण (साक्ष्य) ही परम ज्ञान है। इसका कारण यह है कि *शब्द-ब्रह्म* या वेद भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु *शब्द-ब्रह्म* का वास्तविक सार तो हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन है। इस दिव्य ध्वनि के उच्चारण से भौतिक तथा आध्यात्मिक सारी वस्तुओं का अर्थ प्रकट हो जाता हैं। यह हरे कृष्ण महामंत्र भगवान् से अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु का अर्थ वायु के माध्यम से प्राप्त शब्द ध्वनि से प्रकट होता है। यह ध्वनि चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, किन्तु बिना शब्द-ध्वनि के किसी बात का कोई अर्थ समझा नहीं जा सकता। वेदों में कहा गया है—*अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याय नारायण:स्थित:*— ''नारायण सर्वव्यापी हैं और वे भीतर तथा बाहर स्थित रहते हैं।'' इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१३.३४) में इस प्रकार हुई है—

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि: ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

''हे भरतवंशी! जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को अकेला सूर्य प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा चेतना द्वारा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करते हैं।''

दूसरे शब्दों में, आत्मा तथा परमात्मा की चेतना सर्वव्यापी है, आत्मा अपनी सीमित चेतना से सम्पूर्ण भौतिक शरीर में व्याप्त रहती है और भगवान् की परम चेतना सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहती है। चूँकि आत्मा शरीर के भीतर स्थित है, अत: चेतना सारे शरीर में व्याप्त रहती है। इसी प्रकार परमात्मा या श्रीकृष्ण इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, अत: हर वस्तु व्यवस्थित रूप से कार्य करती है। *मयाध्यक्षेण प्रकृति:सूयते सचराचरम्*—''हे कुन्ती पुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है।'' (*भगवद्गीता* ९.१०)।

अत: शिवजी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे कृपालु हों, जिससे केवल हरे कृष्ण मंत्र के जप से ही भौतिक एवं आध्यात्मिक लोकों में प्रत्येक वस्तु को समझा जा सके। इस प्रसंग में *अमुष्मै* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे उच्चलोक प्राप्त करने के बाद सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य इंगित होता है। जो कर्मी हैं,

वे अपने पूर्वकर्मों के फल के अनुसार स्वर्ग प्राप्त करते हैं और ज्ञानियों को भी जो ब्रह्म-ज्योति में लीन होना चाहते है, वाञ्छित फल मिलता है, किन्तु अन्ततः भक्त ही, जो साक्षात् भगवान् की संगति चाहते हैं, वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१०.१२) में भगवान् को *पवित्रं परमम्* कहा गया है। इसकी पुष्टि इस श्लोक से होती है। शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण के साथ खेलने वाले ग्वालबाल सामान्य जीव नहीं थे। विभिन्न जन्मों में अनेक पुण्यकर्मों को संचित करते रहने से ही भगवान् का साहचर्य प्राप्त होता है। चूँकि पवित्रात्मा ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, अतः भगवान् परम शुद्ध हैं।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ताय—प्रवृत्ति; निवृत्ताय—निवृत्ताय; पितृ-देवाय—पितृलोक के स्वामी को; कर्मणे—सकाम कर्मों के फल को; नमः—नमस्कार; अधर्म—अधर्म; विपाकाय—फल को; मृत्यवे—मृत्यु को; दुःख-दाय—समस्त प्रकार के दुखों का कारण; च—भी।

हे भगवान्, आप पुण्यकर्मों के फलों के दृष्टा हैं। आप प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा उनके कर्म-रूपी परिणाम (फल) हैं। आप अधर्म से जनित जीवन के दुखों के कारणस्वरूप हैं, अतः आप मृत्यु हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं से जीवात्मा में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उत्पन्न होती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

“मैं प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।”

भगवान् कुछ ऐसा करते हैं जिससे असुर लोग तो उन्हें भूल जाते हैं, किन्तु भक्त उनका स्मरण करते रहते हैं। मनुष्य में निवृत्ति भी भगवान् के ही कारण है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१६.७)—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः*—असुरों को यह पता नहीं रहता कि किधर प्रवृत्त हुआ जाये और किधर नहीं। यद्यपि असुर भक्ति के विरोधी हैं, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वे भगवान् की इच्छा से ऐसा करते हैं। चूँकि असुर भगवान् की भक्ति नहीं करना चाहते, अतः भगवान् उनके हृदय के

भीतर से उन्हें ऐसी बुद्धि देते हैं कि वे उन्हें भूल जाँय। सामान्य कर्मी पितृलोक जाना चाहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:*—"जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं में जन्म लेंगे और जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाएँगे।"

इस श्लोक का *दु:खदाय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो अभक्त हैं, वे जन्ममरण के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं। यह अत्यन्त दुखदायी अवस्था है। चूँकि कर्मों के अनुसार मनुष्य को पद प्राप्त होता है, अत: असुर या अभक्त ऐसी दुखदायी स्थितियों में पड़े रहते हैं।

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय साङ्ख्ययोगेश्वराय च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; ते—तुमको; आशिषाम् ईश—हे समस्त आशीर्वादों को प्रदान करने वालों में श्रेष्ठ; मनवे—परम मन या परम मनु को; कारण-आत्मने—समस्त कारणों के कारण; नम:—नमस्कार; धर्माय—समस्त धर्मों के ज्ञाता को; बृहते—सर्वश्रेष्ठ; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी चेतना कभी कुण्ठित नहीं होती उन्हें; पुरुषाय—परम पुरुष को; पुराणाय—सबसे प्राचीन; साङ्ख्य-योग-ईश्वराय—सांख्य योग के नियमों के अधीश्वर को; च—तथा।

हे भगवान्, आप आशीर्वादों के समस्त प्रदायकों में सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्राचीन तथा समस्त भोक्ताओं में परम भोक्ता हैं। आप समस्त सांख्य योग-दर्शन के अधिष्ठाता हैं। आप समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण हैं। आप सभी धर्मों में श्रेष्ठ हैं, आप परम मन हैं और आपका मस्तिष्क (बुद्धि) ऐसा है, जो कभी कुण्ठित नहीं होता। अत: मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कृष्णाय अकुण्ठ-मेधसे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक विज्ञानियों ने अनिश्चितता सिद्धान्त की खोज कर लेने के बाद एक तरह से सोचना बन्द कर दिया है, किन्तु वास्तव में मनुष्य के लिए कोई भी मानसिक कार्य ऐसा नहीं है, जिसे काल तथा आकाश की सीमाओं में बाँधा न जा सके। जीवात्मा अणु है, अर्थात् परमात्मा का एक अणु है, फलत: उसका मस्तिष्क (मन) भी अणुवत् है। उसमें अनन्त ज्ञान नहीं समा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीकृष्ण का भी मस्तिष्क सीमित है। जो कुछ कृष्ण कहते या करते हैं वह समय तथा आकाश (दिक्) से बँधा नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२६) में भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

''हे अर्जुन! भूतकाल में जो हुआ है, वर्तमान में जो कुछ हो रहा है तथा आगे जो कुछ होना है, मैं वह सब भगवान् के रूप में जानता हूँ। मैं सभी जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।''

कृष्ण तो सब कुछ जानते हैं, किन्तु जब तक उनकी कृपा न हो कोई उन्हें जान नहीं सकता। अत: कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधि के लिए अनिश्चितता सिद्धान्त का प्रश्न ही नहीं उठता। कृष्ण जो भी कहते हैं, वह अपने में पूर्ण और निश्चित है और वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर लागू होता है। और जो कुछ कृष्ण कहते हैं उसे जानने वाले के लिए कोई अनिश्चितता नहीं है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् कृष्ण द्वारा कही गई *भगवद्गीता* पर आधारित है और जो इस आन्दोलन से जुड़े हुए हैं उनके लिए अनिश्चितता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *आशिषाम् ईश* कह कर भी सम्बोधित किया गया है। महापुरुष, मुनि तथा देवता सामान्य जीवों को ही आशीष दे सकते हैं, किन्तु स्वयं वे भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण से आशीर्वाद पाये बिना कोई किसी अन्य को आशीर्वाद नहीं दे सकता। *मनवे* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, ''मनु को।'' मनु वैदिक साहित्य के स्वायम्भुव मनु हैं, जो कृष्ण के अवतार हैं। सारे मनु कृष्ण के *शक्त्यावेश* अवतार हैं (*मन्वन्तर-अवतार*)। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, एक मास में ४२०, एक वर्ष में ५,०४० और ब्रह्मा के जीवन-काल में कुल ५,०४,००० मनु होते हैं। चूँकि सारे मनु मानव-समाज के अधीक्षक होते हैं, अत: श्रीकृष्ण अन्तत: मानव-समाज के परम अधीक्षक हैं। *मनवे* का दूसरा अर्थ सभी प्रकार के मंत्रों की सिद्धि भी होता है। मंत्र बद्धजीव को बन्धन से छुड़ाता है, अत: हरे कृष्ण मंत्र का जप करने मात्र से ही मनुष्य का किसी भी स्थिति से उद्धार हो सकता है।

कारणात्मने—प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है। इस श्लोक में भाग्यवाद के सिद्धान्त का खंडन है। चूँकि हर वस्तु का कारण होता है, अत: भाग्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि तथाकथित विज्ञानी तथा दार्शनिक वास्तविक कारण ढूँढ पाने में असमर्थ रहते हैं, अत: वे वृथा ही

बकते हैं कि सब संयोगवश घटित होता है। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को समस्त कारणों का कारण कहा गया है। यहाँ उन्हें *कारणात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है; अत: उनका व्यक्तित्व ही प्रत्येक वस्तु का मूल कारण या बीज है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.२) में वर्णित है— *जन्माद्यस्य यत:*—परम सत्य समस्त सृष्टि का परम कारण है।

सांख्ययोगेश्वराय शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा गया है। अकल्पनीय योगशक्तियों से संपन्न हुऐ बिना कोई ईश्वर नहीं माना जा सकता। इस कलिकाल में जिन्हें थोड़ी भी योगशक्ति प्राप्त है वे अपने को ईश्वर कहते हैं, किन्तु ऐसे छद्म ईश्वर निरे मूर्ख माने जा सकते हैं, क्योंकि परम पुरुष श्रीकृष्ण ही समस्त योग-शक्तियों एवं सिद्धियों से समन्वित हैं। इस समय प्रचलित सांख्य योग पद्धति का प्रवर्तन नास्तिक कपिल द्वारा हुआ, किन्तु आदि सांख्ययोग पद्धति का प्रवर्तन श्रीकृष्ण के अवतार, देवहूति के पुत्र, कपिल द्वारा किया गया था। इसी प्रकार कृष्ण के अन्य अवतार दत्तात्रेय ने भी सांख्ययोग पद्धति की व्याख्या की। इस तरह श्रीकृष्ण समस्त सांख्ययोग पद्धतियों तथा योग-शक्तियों के स्त्रोत हैं।

पुरुषाय पुराणाय शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को *आदि पुरुष* के रूप में स्वीकार किया गया है। *भगवद्गीता* में उन्हें *पुराण पुरुष* अर्थात् सबसे प्राचीन पुरुष भी माना गया है। यद्यपि वे सभी महापुरुषों में सबसे पुराने हैं, तो भी वे सबों में तरुण, नवयौवन से पूर्ण भी हैं। एक और शब्द *धर्माय* भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि श्रीकृष्ण समस्त धर्मों के आदि प्रवर्तक हैं, अत: *भागवत* (६.३.१९) में कहा गया है— *धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।* कोई भी नवीन धर्म प्रचारित नहीं कर सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित धर्म पहले ही विद्यमान है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण हमें मूल धर्म की जानकारी देते हैं और सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग करने को कहते हैं। वास्तविक धर्म तो उनके प्रति समर्पण है। *महाभारत* में भी कहा गया है—

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जना:।

ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥

इसका सारांश यह है कि जिसने ठीक से वेदों का अध्ययन किया है, जो पूर्ण विप्र है अर्थात् वेदों का ज्ञाता है, आध्यात्मिक जीवन को समझता है, वही परम पुरुष श्रीकृष्ण को सनातन धर्म के रूप में

बताता है। अत: शिवजी हमें सनातन धर्म के नियमों की शिक्षा देते हैं।

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहङ्कृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचो विभूतये ॥ ४३॥

शब्दार्थ

शक्ति-त्रय—तीन प्रकार की शक्तियाँ; समेताय—आगार को; मीढुषे—रुद्र को; अहङ्कृत-आत्मने—अहंकार के स्रोत; चेत:—ज्ञान; आकूति—कार्य करने की उत्सुकता; रूपाय—रूप को; नम:—मेरा नमस्कार है; वाच:—वाणी को; विभूतये—विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों को।

हे भगवान्, आप कर्ता, करण और कर्म—इन तीनों शक्तियों के नियामक हैं। अत: आप शरीर, मन तथा इन्द्रियों के परम नियन्ता हैं। आप अहंकार के परम नियन्ता रुद्र भी हैं। आप वैदिक आदेशों के ज्ञान तथा उनके अनुसार किए जाने वाले कर्मों के स्रोत हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति मिथ्या अहंकार द्वारा निर्देशित होता है, अत: शिवजी मिथ्या अहंकार को भगवान् की कृपा से पवित्र करना चाह रहे हैं। चूँकि शिवजी या रुद्र ही अहंकार के नियन्ता हैं, इसलिए वे भगवान् की कृपा से अप्रत्यक्ष रूप से अपने को शुद्ध कर लेना चाहते हैं, जिससे उनका वास्तविक अहंकार जाग्रत हो सके। निस्सन्देह, आध्यात्मिक ज्ञान में रुद्र सदैव जागरूक रहते हैं, किन्तु वे हमारे लाभ के लिए ही इस प्रकार से स्तुति कर रहे हैं। निर्विशेषवादियों के लिए शुद्ध अहंकार तो *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं यह शरीर न होकर आत्मा हूँ" है। किन्तु वास्तव में आत्मा को भक्ति सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। इसीलिए शिवजी वेदों के आदेशानुसार मन तथा कर्म से भगवान् की भक्ति में लगने के लिए प्रार्थना करते हैं। अहंकार को शुद्ध करने की यही विधि है। *चेत:* का अर्थ है "ज्ञान"। बिना पूर्ण ज्ञान के पूर्ण रूप से कर्म नहीं किया जा सकता। ज्ञान का असली स्रोत *वाच:* या शब्द है, शब्द जो वैदिक आदेशों से प्राप्त होता है। यहा वाच: शब्द का अर्थ है वैदिक आदेश। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से ही हुई और यदि शब्द स्पष्ट तथा शुद्ध हो तो पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण कर्म प्रकट होते हैं। महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के जप से यह सब सम्भव है। इस प्रकार शिवजी ज्ञान तथा वेदों के निर्देशानुसार कर्म की शुद्धि के द्वारा अपने शरीर, मन तथा कर्मों की शुद्धि के लिए बारम्बार प्रार्थना कर रहे हैं। वे भगवान् की प्रार्थना कर रहे हैं, जिससे उनका मन, इन्द्रियाँ तथा वाणी—ये सब केवल भक्ति की ओर ही उन्मुख हों।

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

दर्शनम्—दर्शन; नः—हमारी; दिदृक्षूणाम्—देखने की इच्छा; देहि—कृपा करके दिखाएं; भागवत—भक्तों का; अर्चितम्—उनके द्वारा पूजित; रूपम्—स्वरूप; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय; स्वानाम्—अपने भक्तों का; सर्व-इन्द्रिय—सभी इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अञ्जनम्—अत्यन्त मनोहर।

हे भगवान्, मैं आपको उस रूप में देखने का इच्छुक हूँ, जिस रूप में आपके अत्यन्त प्रिय भक्त आपकी पूजा करते हैं। आपके अन्य अनेक रूप हैं, किन्तु मैं तो उस रूप का दर्शन करना चाहता हूँ जो भक्तों को विशेष रूप से प्रिय है। आप मुझ पर अनुग्रह करें और मुझे वह स्वरूप दिखलाएं, क्योंकि जिस रूप की भक्त पूजा करते हैं वही इन्द्रियों की इच्छाओं को पूरा कर सकता है।

तात्पर्य : वेद-मंत्र या श्रुति में कहा गया है कि परमेश्वर *सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः* हैं। दूसरे शब्दों में, वे *रसो वै सः* कहलाते हैं अर्थात् सभी रसमय सम्बन्धों के स्रोत। हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ हैं (देखने, स्वाद लेने, सूँघने, स्पर्श करने की शक्तियाँ इत्यादि) और हमारी इन सभी इन्द्रियों की इच्छाएँ तभी पूरी हो सकती हैं, जब इन्हें भगवान् की सेवा में लगा दिया जाये। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—"भक्ति का अर्थ है समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश में लगाना" (*नारद पंचरात्र*) किन्तु भौतिक इन्द्रियों को भगवान् की भक्ति में नहीं लगाया जा सकता, अतः मनुष्य को सभी उपाधियों से मुक्त हो जाना चाहिए। *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को समस्त उपाधियों अथवा मिथ्या अहंकार से रहित होकर शुद्ध होना चाहिए। जब हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हमारी इच्छाएँ अथवा मनोवृत्तियाँ ठीक से पूरी होती हैं। अतः शिवजी भगवान् को उस रूप में देखना चाहते हैं, जो बौद्ध दार्शनिकों अथवा बौद्धों के लिए अकल्पनीय है।

निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी भी परमेश्वर का रूप देखते हैं। बौद्ध मन्दिरों में ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्तियाँ रहती हैं, किन्तु इनकी पूजा उस रूप में नहीं होती जैसी कि वैष्णव मन्दिरों में राधाकृष्ण, सीताराम या लक्ष्मीनारायण के रूपों की होती है। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में या तो राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। शिवजी भगवान् के पूर्ण रूप को उसी प्रकार देखना चाहते हैं जिस प्रकार भक्त देखना चाहते हैं। यहाँ पर *रूपं प्रियतमं स्वानाम्* का विशेष उल्लेख हुआ है, जिसका

तात्पर्य है कि शिवजी उस रूप का दर्शन करना चाहते हैं, जो भक्तों को अत्यन्त प्रिय है। *स्वानाम्* महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भगवान् को केवल भक्त ही अत्यन्त प्रिय हैं। उन्हें ज्ञानी, योगी तथा कर्मी उतने प्रिय नहीं जितने कि भक्त प्रिय हैं। कर्मी भगवान् को अपनी आवश्यकता पूर्ति करने वाले के रूप में देखना चाहते हैं, ज्ञानी उनसे तादात्म्य होने के लिए उन्हें देखना चाहते हैं। और योगी उन्हें अंशत: अपने हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखना चाहते हैं, किन्तु भक्तजन उन्हें सर्वांग रूप में देखना चाहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में कहा गया है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम् ।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने वंशीवादन में निपुण हैं, जिनके नेत्र खिले हुए कमलदलों के समान हैं, जिनका सिर मोरपंखों से अलंकृत है, जिनकी सुन्दरता नील-मेघों के समान है और जिनकी अद्वितीय शोभा करोड़ों कामदेवों को मोहित करती है।'' इस प्रकार शिवजी की इच्छा है कि वे भगवान् के यहाँ वर्णित रूप का दर्शन करें अर्थात् उस रूप में जिस रूप में वे भागवतों या भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह कि शिवजी भगवान् के सर्वांग रूप को देखना चाहते हैं, निर्विशेषवादियों या शून्यवादियों की तरह नहीं। यद्यपि भगवान् विभिन्न रूपों में एक ही हैं (*अद्वैतमच्युतमनादिम्*) तो भी गोपियों के साथ विहार करने वाला उनका रूप तथा ग्वालबालों के संग उनका तरुण रूप (*किशोर मूर्ति*) अत्यन्त पूर्ण है। अत: वैष्णव लोग भगवान् के वृन्दावन की लीलाओं वाले रूप को प्रधान मानते हैं।

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसङ्ग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम् ॥ ४५ ॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—चिकना; प्रावृट्—वर्षाकाल के; घन-श्यामम्—घने बादलों सा; सर्व—समस्त; सौन्दर्य—सुन्दरता; सङ्ग्रहम्—राशि; चारु—सुन्दर; आयत—शारीरिक अंग; चतु:-बाहु—चार भुजाओं वाले को; सु-जात—अत्यन्त सुन्दर; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; आननम्—मुख; पद्म-कोश—कमल पुष्पों का गुच्छा; पलाश—पंखड़ियाँ, दल; अक्षम्—नेत्र; सुन्दर—सुन्दर; भ्रु—भौंहें; सु-नासिकम्—उन्नत नाक; सु-द्विजम्—सुन्दर दाँत; सु-कपोल—सुन्दर मस्तक; आस्यम्—मुख; सम-कर्ण—एकसमान सुन्दर कान; विभूषणम्—पूर्णत: सज्जित।

भगवान् की सुन्दरता वर्षाकालीन श्याम मेघों के समान है। उनके शारीरिक अंग वर्षा जल के समान चमकीले हैं। दरअसल, वे समस्त सौंदर्य के समष्टि (सारसर्वस्व) हैं। भगवान् की चार भुजाएं हैं, सुन्दर मुख है और उनके नेत्र कमलदलों के तुल्य हैं। उनकी नाक उन्नत, उनकी हँसी मोहने वाली, उनका मस्तक सुन्दर तथा उनके कान सुन्दर और आभूषणों से सज्जित हैं।

तात्पर्य : ग्रीष्म ऋतु की तपन के बाद आकाश में काले-काले बादल अत्यन्त सुहावने लगते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।* भगवान् अपने बालों में मोर पंख धारण करते हैं, उनका शरीर श्याम बादलों के समान है। सुन्दर या स्निग्ध शब्द का अर्थ "अत्यन्त लुभावना" है। *कन्दर्प कोटि कमनीय।* श्रीकृष्ण की सुन्दरता इतनी मोहक है कि करोड़ों कामदेव भी उसकी समता नहीं कर सकते। विष्णु रूप में भगवान् का रूप समस्त ऐश्वर्यों से सुसज्जित रहता है, अत: शिवजी नारायण या विष्णु के अत्यन्त ऐश्वर्यवान रूप का दर्शन पाने का प्रयास कर रहे हैं। सामान्यत: भगवान् की पूजा नारायण या विष्णु की पूजा से प्रारम्भ होती है, किन्तु कृष्ण तथा राधा की पूजा गुप्त विधि से की जाती है। भगवान् नारायण की पूजा *पाञ्चरात्रिक* विधि से की जाती है, जबकि भगवान् कृष्ण की पूजा भागवत-विधि से की जाती है। उनकी पाञ्चरात्र विधि से पूजा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की पूजा भागवत विधि से नहीं कर सकता है। वास्तव में नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा *नारद पञ्चरात्र* द्वारा निर्दिष्ट पाञ्चरात्रिक विधि से ही करते हैं। नवदीक्षित भक्त राधा कृष्ण की पूजा नहीं कर सकते, अत: मन्दिरों में विधि-विधानों के अनुसार ही लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। भले ही मन्दिर में राधाकृष्ण विग्रह हो, किन्तु नवदीक्षित भक्तों द्वारा की गयी पूजा लक्ष्मीनारायण पूजा के रूप में ही स्वीकार्य होती है। पाञ्चरात्रिक विधि से की गई पूजा *विधि-मार्ग* कहलाती है और भागवत विधि से की गई पूजा *राग-मार्ग* कहलाती है। *राग-मार्ग* के सिद्धान्त उन भक्तों के लिए हैं, जो वृन्दावन पद को प्राप्त हैं।

वृन्दावन के वासी—गोपियाँ, माता यशोदा, नन्द महाराज, गोप, गाएँ तथा अन्य सब—वास्तव में *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* के पद पर स्थित हैं। वे पाँच मूल रसों को भोगते हैं—*दास्य, सख्य,*

वात्सल्य, माधुर्य तथा *शान्त*। यद्यपि *भागवत-मार्ग* में ये पाँच रस पाये जाते हैं, किन्तु *भागवत-मार्ग* तो विशेषरूप से *वात्सल्य* तथा *माधुर्य* रसों के लिए है। परन्तु *विप्रलम्भ सख्य* भी है, जो गोपों द्वारा भोगा जाता है। यद्यपि गोपों तथा कृष्ण के मध्य मित्रता है, किन्तु यह मित्रता कृष्ण तथा अर्जुन की ऐश्वर्य-मित्रता से भिन्न है। जब अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा तो उन्हें भय हुआ कि उन्होंने तो कृष्ण को सामान्य मित्र माना था, फलत: उन्होंने क्षमा माँगी। किन्तु वृन्दावन के ग्वालबाल जो कृष्ण के मित्र हैं, वे उनके कंधों पर चढ़ते हैं, कृष्ण को अन्यों के समान अपने ही तुल्य मानते हैं, वे उनसे कभी भी डरते नहीं, न वे कभी क्षमा माँगते हैं। इस प्रकार *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* कृष्ण के साथ उच्चतर पद पर मित्रता है। यह पद *विप्रलम्भ* मित्रता का है। वात्सल्य भाव तथा माधुर्य भाव वृन्दावन के *राग-मार्ग* में देखे जा सकते हैं।

कुछ अनैतिक लोग पांचरात्रिक विधि के *विधि-मार्ग* से कृष्ण की भक्ति किये बिना ही *राग-मार्ग* में तुरन्त कूदना चाहते हैं। इन्हें *सहजिया* कहते हैं। कुछ ऐसे अधम (असुर) भी हैं, जो अपने स्वेच्छाधारी आचरण का लाभ उठाते हुए कृष्ण तथा गोपियों के साथ उनकी लीलाओं की नकल करने में ही आनन्द लेते हैं। ऐसे अधम लोग जो *राग-मार्ग* पर पुस्तकें तथा गीत लिखकर प्रकाशित करते हैं, वे निश्चित ही नरकगामी हैं। दुर्भाग्यवश वे अपने साथ औरों को भी पतित बनाते हैं। कृष्णभक्ति में लगे हुए भक्तों को ऐसे अधमों से बचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि लक्ष्मीनारायण की पूजा करते समय *विधि-मार्ग* का कठोर अनुसरण करे, भले ही मन्दिर में भगवान् राधाकृष्ण-रूप में क्यों न हों। राधाकृष्ण में लक्ष्मीनारायण निहित हैं, अत: *विधि-मार्ग* से ही पूजा करनी चाहिए और लक्ष्मीनारायण के ही रूप में भगवान् सेवा स्वीकार करते हैं। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* नामक कृति में राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण के *विधि-मार्ग*-पूजा सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दिये गये हैं। यद्यपि *विधि-मार्ग* पूजा में चौंसठ प्रकार के अपराध हो सकते हैं, किन्तु *राग-मार्ग* पूजा में ऐसे अपराधों पर विचार नहीं किया जाता, क्योंकि उस पद पर स्थित भक्त अत्यन्त उन्नत होते हैं, उनके द्वारा अपराध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि *विधि-मार्ग* स्तर (पद) पर विधि-विधानों का पालन न करके अपराधों को ढूँढने में ही दृष्टि जमा दी जाये तो प्रगति नहीं हो सकती।

शिवजी ने कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में *चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम्* शब्दों का प्रयोग नारायण

या विष्णु के सुन्दर चतुर्भुज रूप के लिए किया है। जो श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, वे उन्हें *सुजातरुचिराननम्* के रूप में वर्णन करते हैं। *विष्णु तत्त्व* में परमेश्वर के लाखों-करोड़ों रूप रहते हैं, किन्तु इन सबमें श्रीकृष्ण का रूप ही सुन्दरतम है। इसलिए जो कृष्ण-पूजक हैं उनके लिए *सुजात-रुचिराननम्* शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवान् विष्णु के चारों हाथ भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए हैं। जिन दो हाथों में कमल तथा शंख धारण किये हैं, वे भक्तों के लिए हैं और शेष दो जिनमें चक्र तथा गदा धारण किये रहते हैं, असुरों के लिए हैं। वास्तव में उनके चारों हाथ कल्याणप्रद हैं, चाहे वे कमल तथा शंख धारण किये हों या चक्र तथा गदा। जिन असुरों का भगवान् विष्णु के चक्र तथा गदा से वध होता है, वे दिव्य-लोक को जाते हैं। जिस तरह कमल तथा शंख वाले हाथों द्वारा रक्षित भक्त भी दिव्य लोक को जाते हैं। किन्तु जो असुर दिव्यलोक को जाते हैं, वे निर्गुण ब्रह्मज्योति में स्थित होते हैं, जबकि भक्तों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट होने दिया जाता है। कृष्ण के भक्त तुरन्त गोलोक वृन्दावनलोक को भेज दिये जाते हैं।

भगवान् के सौन्दर्य की उपमा वर्षा से दी गई है, क्योंकि जब वर्षा ॠतु में वर्षा होती है, तो यह लोगों को अधिकाधिक भाती है। ग्रीष्म की भीषण तपन के बाद लोग वर्षा ॠतु का अत्यधिक आनन्द लेते हैं। यही नहीं, गाँवों के लोग घर के बाहर निकल कर वर्षा का प्रत्यक्ष आनन्द लेते हैं। इस प्रकार भगवान् के शारीरिक अंगों की तुलना वर्षाकालीन बादलों से की गई है। भक्त भगवान् के सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं, क्योंकि यह समस्त प्रकार की सुन्दरताओं का संग्रह होता है। इसीलिए *सर्व सौन्दर्य संग्रहम्* शब्द का प्रयोग हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि भगवान् के शरीर का कोई अंग कम सुन्दर है। यह *पूर्णम्* होता है। प्रत्येक वस्तु पूर्ण रहती है। चाहे वह ईश्वर की सृष्टि हो, ईश्वर की सुन्दरता हो या उनके शारीरिक अंग हों—वे सब इतने पूर्ण होते हैं कि भगवान् के सौंदर्यं को देखकर किसी की भी इच्छा पूरी हो जाती है। *सर्व सौन्दर्य* शब्द सूचित करता है कि भौतिक जगत में तथा वैकुण्ठलोक में भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दरताएँ होती हैं और भगवान् में वे सब रहती हैं। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी समान रूप से भगवान् के सौंदर्य का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। चाहे असुर हों या देवता, भौतिकतावादी हों या अध्यात्मवादी, भगवान् सबों को आकृष्ट करने वाले हैं, इसीलिए वे कृष्ण कहलाते हैं। इसी प्रकार उनके भक्त भी सबों को आकृष्ट करने वाले हैं। जैसाकि षड्गोस्वामी स्तोत्र में

उल्लेख है— *धीराधीर जनप्रियौ*—गोस्वामी धीर (भक्त) तथा अधीर (असुर) दोनों को समान रूप से प्रिय हैं। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन में थे तो वे असुरों को प्रिय नहीं थे, किन्तु वृन्दावन में रहते हुए छहों गोस्वामी असुरों को प्रिय थे। अपने भक्तों के साथ बर्ताव में भगवान् की यही विशिष्टता है। कभी-कभी वे अपने भक्तों को अपने से भी बढ़कर श्रेय देते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान् कृष्ण युद्ध के लिए केवल आदेश दे रहे थे। युद्ध का सारा श्रेय तो अर्जुन को मिला। *निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*—"हे सव्यसाची (अर्जुन)! तुम इस युद्ध में केवल कारणस्वरूप बनो" (*भगवद्गीता* ११.३३)। हर योजना कृष्ण की थी, किन्तु विजय का श्रेय मिला अर्जुन को। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रत्येक घटना भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की भविष्यवाणी के अनुसार घट रही है, किन्तु श्रेय मिलता है श्री चैतन्य महाप्रभु के आज्ञाकारी सेवकों को। इस प्रकार यहाँ पर भगवान् को *सर्व सौन्दर्य संग्रह* के रूप में वर्णित किया गया है।

प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकै रूपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥ ४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रीति—अनुग्रहपूर्ण; प्रहसित—हास्य; अपाङ्गम्—तिरछी चितवन; अलकैः—घुँघराले वालों से; रूप—सौंदर्य; शोभितम्—सुशोभित; लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल का; किञ्जल्क—केशर; दुकूलम्—वस्त्र; मृष्ट—झलमलाते; कुण्डलम्—कान के आभूषण; स्फुरत्—चमचमाता; किरीट—मुकुट; वलय—कंकण; हार—गले की माला; नूपुर—पाँव का घुंघुरूदार आभूषण; मेखलम्—करधनी; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल का फूल; माला—फूल की माला; मणि—मोती; उत्तम—श्रेष्ठ; ऋद्धि-मत्—इस कारण और भी सुन्दर।

भगवान् अपने मुक्त तथा दयापूर्ण हास्य तथा भक्तों पर तिरछी चितवन के कारण अनुपम सुन्दर लगते हैं। उनके बाल काले तथा घुँघराले हैं। हवा में उड़ता उनका वस्त्र कमल के फूलों में से उड़ते हुए केशर-रज के समान प्रतीत होता है। उनके झलमलाते कुण्डल, चमचमाता मुकुट, कंकण, बनमाला, नूपुर, करधनी तथा शरीर के अन्य आभूषण शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प से मिलकर उनके वक्षस्थल पर पड़ी कौस्तुभमणि की प्राकृतिक शोभा को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : *प्रहसितापाङ्ग* शब्द जो कृष्ण की मुस्कान तथा चितवन का द्योतक है, गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण के व्यवहार के प्रसंग में प्रयुक्त है। जब गोपियों के हृदय में वे मार्धुय रस की वृद्धि करते

हैं, तो भगवान् सदैव विनोद मुद्रा में रहते हैं। शंख, चक्र, गदा तथा पद्म या तो उनके हाथों में या हथेली में दिखाये जाते हैं। हस्तरेखा ज्योतिष के अनुसार जिसकी हथेली में ये चिह्न पाये जाते हैं, वह महापुरुष होता है और ये भगवान् को सूचित करने वाले हैं।

सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्या क्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सिंह—शेर; स्कन्ध—कंधे; त्विषः—बालों की लटें; बिभ्रत्—धारण किये हुए; सौभग—भाग्यवाली; ग्रीव—गर्दन; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; श्रिया—सुन्दरता; अनपायिन्या—कभी न घटने वाली; क्षिप्त—मात करने वाली; निकष—कसौटी; अश्म—पत्थर; उरसा—वक्षस्थल के साथ; उल्लसत्—झिलमिलाती है।

भगवान् के कन्धे सिंह के समान हैं। इन पर मालाएँ, हार एवं घुँघराले बाल पड़े हैं, जो सदैव झिलमिलाते रहते हैं। इनके साथ ही साथ कौस्तुभमणि की सुन्दरता है और भगवान् के श्याम वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के प्रतीक हैं। इन सुवर्ण रेखाओं की चमाहट सुवर्ण कसौटी पर बनी सुवर्ण लकीरों से कहीं अधिक सुन्दर है। दरअसल ऐसा सौन्दर्य सुवर्ण कसौटी को मात करने वाला है।

तात्पर्य : सिंह के कंधों पर घुँघराले बाल अत्यधिक सुन्दर लगते हैं। भगवान् के कंधे सिंह के ही समान थे और उनके कंधे पर पड़ी मालाओं, *हार* तथा कौस्तुभमणि की माला के कारण उनकी सुन्दरता सिंह से भी बढ़ गई थी। भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के चिह्न हैं। फलत: उनका वक्षस्थल सोने की कसौटी की सुन्दरता को भी मात करता है। काली कसौटी का पत्थर जिस पर सोने की शुद्धता परखने के लिए सोना रगड़ा जाता है सोने की रेखाएँ बन जाने के कारण अत्यन्त सुन्दर लगने लगता है। भगवान् का वक्षस्थल अपनी शोभा में कसौटी की शोभा से भी बढ़कर है।

पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसङ्‌क्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पूर—श्वास; रेचक—निःश्वास; संविग्न—चलायमान; वलि—उदर में पड़ने वाली सिलवटें; वल्गु—सुन्दर; दल—बरगद के पत्ते के समान; उदरम्—पेट; प्रतिसङ्‌क्रामयत्—नीचे की ओर भँवरदार; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; नाभ्या—नाभि; आवर्त—कुण्डली; गभीरया—गहराई में।

भगवान् का उदर (पेट) त्रिवली के कारण सुन्दर लगता है। गोल होने के कारण उनका

उदर वटवृक्ष के पत्ते के समान जान पड़ता है और जब वे श्वास-प्रश्वास लेते हैं, तो इन सलबटों का हिलना-जुलना अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता हैं। भगवान् की नाभि के भीतर की कुण्डली इतनी गहरी है मानो सारा ब्रह्माण्ड उसी में से उत्पन्न हुआ हो और पुन: उसी में समा जाना चाहता हो।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् की नाभि से निकले कमलनाल से उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्माजी ने इस कमलनाल के ऊपर आसीन होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना की। भगवान् की नाभि इतनी गहरी तथा चक्करदार है कि मानो सारा ब्रह्माण्ड उनकी शोभा से आकृष्ट होकर पुन: उसी के भीतर समा जाना चाहता है। नाभि तथा उदर की त्रिवली से भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। भगवान् के शारीरिक अंगो का विवरण विशेषत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सूचक है। निर्विशेषवादी भगवान् के सुन्दर शरीर को नहीं समझ सकते, जिसका वर्णन शिवजी द्वारा की गई स्तुति में यहाँ हुआ है। यद्यपि निर्विशेषवादी शिवजी की पूजा में लगे रहते हैं, किन्तु शिवजी ने भगवान् विष्णु के शारीरिक अंगों का जो स्तवन किया है, उसे समझने में वे असमर्थ रहते हैं। भगवान् विष्णु को *भागवत* (११.५.३३) में *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहा गया है, क्योंकि वे ब्रह्मा तथा शिवजी द्वारा सदैव पूजित हैं।

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्याम—श्याम वर्ण का; श्रोणि—कमर के निचे वाला भाग; अधि—अतिरिक्त; रोचिष्णु—सुहावना; दुकूल—वस्त्र; स्वर्ण—सुनहली; मेखलम्—करधनी; सम—समान; चारु—सुन्दर; अङ्घ्रि—चरणकमल; जङ्घ—पिंडली; ऊरु—जाँघें; निम्न—निचली; जानु—घुटने; सु-दर्शनम्—सुघड़, दर्शनीय।.

भगवान् की कटि का अधोभाग श्यामल रंग का है और पीताम्बर से ढका है। उसमें सुनहली, जरीदार करधनी है। उनके एक समान चरणकमल, पिंडलियाँ, जाँघें तथा घुटने अनुपम सुन्दर हैं। निस्सन्देह, भगवान् का सम्पूर्ण शरीर अत्यन्त सुडौल प्रतीत होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में जिन बारह महाजनों का उल्लेख है उनमें शिवजी भी एक हैं। ये हैं—स्वयम्भू, नारद, शम्भु, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, वैयासकी या शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज। शिव की पूजा करने वाले निर्विशेषवादियों को चाहिए कि भगवान् के दिव्य सच्चिदानन्द विग्रह के विषय में जानें। यहाँ पर शिवजी अत्यन्त कृपा करके भगवान् के अंगों का वर्णन कर रहे हैं। अत: निर्विशेषवादियों का यह तर्क कि भगवान् का कोई स्वरूप नहीं होता, किसी

भी दशा में स्वीकार्य नहीं है।

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पदा—चरणकमल द्वारा; शरत्—शरद ऋतु; पद्म—कमल पुष्प; पलाश—दल; रोचिषा—अत्यन्त मनोहर; नख—नाखून; द्युभिः—तेज से; नः—हमारा; अन्तः-अघम्—मल; विधुन्वता—धो सकने वाला; प्रदर्शय—दिखलाइये; स्वीयम्—अपना; अपास्त—घटता हुआ; साध्वसम्—जगत का कष्ट; पदम्—चरणकमल; गुरो—हे गुरु; मार्ग—पथ; गुरुः—गुरु; तमः-जुषाम्—अज्ञान के कारण कष्ट उठाने वाले व्यक्ति।.

हे भगवन्, आपके दोनों चरणकमल इतने सुन्दर हैं मानो शरत् ऋतु में उगने वाले कमल पुष्प के खिलते हुए दो दल हों। दरअसल आपके चरणकमलों के नाखूनों से इतना तेज निकलता है कि वह बद्धजीव के हृदय के सारे अंधकार को तुरन्त छिन्न कर देता है। हे स्वामी, मुझे आप अपना वह स्वरूप दिखलायें जो किसी भक्त के हृदय के अन्धकार को नष्ट कर देता है। मेरे भगवन्, आप सबों के परम गुरु हैं, अतः आप जैसे गुरु के द्वारा अज्ञान के अंधकार से आवृत सारे बद्धजीव प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : शिवजी ने इस प्रकार से भगवान् के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से वर्णन किया है। अब वे भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना चाहते हैं। जब कोई भक्त भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना चाहता है, तो वह अपना ध्यान सबसे पहले भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित करता है। *श्रीमद्भागवत* को भगवान् की दिव्य वाणी माना जाता है और इसके बारह स्कंध भगवान् के दिव्य रूप के अनुसार विभाजित हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कंध भागवत के चरण हैं, अतः शिवजी ने सुझाया है कि मनुष्य को पहले भगवान् के चरणों का दर्शन करना चाहिए। इसका यह भी अर्थ होता है कि यदि कोई गहन भाव से *श्रीमद्भागवत* पढ़ना चाहता है, तो उसे पहले प्रथम तथा द्वितीय स्कंध पढ़ने चाहिए।

भगवान् के चरणकमलों की सुन्दरता की उपमा शरदकालीन कमलदलों से दी गई है। प्रकृति का नियम है कि शरत् ऋतु में नदियों तथा सरोवरों का गंदा जल निर्मल हो जाता है। उस समय उनमें खिलने वाले कमल अत्यन्त चमकीले तथा सुन्दर लगते हैं। कमल पुष्प की तुलना भगवान् के चरणों से

की गई है और कमलदलों की तुलना भगवान् के पाँव के नाखूनों से। भगवान् के चरणों के नाखून अत्यन्त चमकीले हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* द्वारा होती है—*आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल-विग्रहस्य*—भगवान् के दिव्य शरीर का अंग-प्रत्यंग *आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल* हैं। इस तरह प्रत्येक अंग निरन्तर उज्ज्वल रहता है। जिस प्रकार धूप से संसार का अंधकार भाग जाता है, उसी तरह भगवान् के शरीर का तेज बद्धजीव के अन्त:करण के अंधकार को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, जो कोई भी दिव्य विज्ञान को समझना चाहता है तथा भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करना चाहता है उसे चाहिए कि वह पहले *श्रीमद्भागवत* के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों को पढ़कर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन प्राप्त करने का यत्न करे। भगवान् के चरणकमलों का दर्शन होने से अन्त:करण से सभी प्रकार के सन्देह तथा भय दूर हो जाते हैं।

भगवद्गीता (१६.१) में कहा गया है कि आत्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को निर्भय होना चाहिए। *अभयं सत्त्वसंशुद्धि: ।* भय तो भौतिकता में निमग्न होने का प्रतिफल है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.३७) में यह भी कहा गया है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय तो देहात्मबुद्धि से उपजता है। जब तक मनुष्य सोचता रहता है कि वह शरीर है तब तक वह डरता है और ज्योंही वह इस भौतिक बोध से मुक्त हो जाता है, तो वह तुरन्त *ब्रह्मभूत* अर्थात् स्वरूपसिद्ध होकर निर्भय हो जाता है। *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा* (*भगवद्गीता* १८.५४)। निर्भय हुए बिना प्रसन्न नहीं रहा जा सकता। भक्त सदैव निर्भय तथा प्रसन्नमुख रहते हैं, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते हैं। कहा भी गया है (*भागवत* १.२.२०)—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगत: ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

भगवद्भक्ति योग के अभ्यास से मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न रहता है। जब तक मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न नहीं रहता, वह भगवद् विज्ञान को समझ नहीं पाता। *भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते।* यह श्लोक उनके लिए है, जो इस संसार के भय से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं। इस प्रकार मुक्त होकर ही भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। अत: शिवजी सबों को भगवद् भक्तियोग का अभ्यास करने का उपदेश देते हैं। अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसा करने से सचमुच मुक्त हुआ जा

सकता है और आध्यात्मिक आनन्द उठाया जा सकता है।

कहा भी गया है—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥

भगवान् परम गुरु हैं और परमेश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि भी गुरु होता है। भगवान् अपने चरणकमलों के नाखूनों के तेज से भक्त को भीतर से प्रकाशित करते हैं और उनका प्रतिनिधि गुरु बाहर से करता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने तथा सदा गुरु का उपदेश ग्रहण करने से ही आध्यात्मिक जीवन में प्रगति तथा वैदिक ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

इस प्रकार वेदों (*श्वेताश्वर उपनिषद्* ६.२३) का मत है कि भगवान् के चरणकमलों में तथा गुरु में अटल श्रद्धा होने पर ही वास्तविक वैदिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयद: स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; रूपम्—रूप; अनुध्येयम्—ध्यान करना चाहिए; आत्म—स्व; शुद्धिम्—शुद्धि; अभीप्सताम्—इच्छा रखने वालों का; यत्—जो; भक्ति-योग:—भक्ति; अभय-द:—निर्भय कराने वाली; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्यों को; अनुतिष्ठताम्—करने में।

हे भगवन्, जो लोग अपने जीवन को परिशुद्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त विधि से आपके चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। जो अपने वर्ण के अनुरूप कार्य को पूरा करने की धुन में हैं और जो भय से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें भक्तियोग की इस विधि का अनुसरण करना चाहिए।

तात्पर्य : कहा गया है कि भगवान् का दिव्य नाम, स्वरूप, लीलाएँ तथा उनके संगीजनों को कोरी इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; अत: इन इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए भक्ति करनी होती है, जिससे भगवान् के दर्शन हो सकें। किन्तु यहाँ पर यह बताया गया है कि जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं उनकी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मषों से पवित्र हो जाती हैं और वे भगवान् का

प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। इस युग में सामान्य लोगों के बीच ''ध्यान'' शब्द अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वे इसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते। किन्तु वैदिक साहित्य से पता चलता है कि योगीजन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं। *ध्यानावस्थिततद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः* (भागवत १२.१३.१)। योगियों का यही वास्तविक कार्य है; भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना। अतः शिवजी उपदेश देते हैं कि जो वास्तव में परिशुद्ध होना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार के ध्यान में या योग में लगना चाहिए जिससे न केवल अन्तःकरण में भगवान् का निरन्तर दर्शन किया जा सकता है वरन् साक्षात् उनका दर्शन हो सकता है और वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन में उनका पार्षद बना जा सकता है।

स्वधर्मम् (यथा *स्वधर्मम् अनुतिष्ठताम्* में) शब्द सूचित करता है कि यदि जीवन में सचमुच सुरक्षा चाहिए तो —वर्णाश्रम धर्म जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के वृत्तिपरक कार्यों का द्योतक है और जो मानवता के लिए उपयुक्त व्यवस्था है—के साथ-साथ भक्तियोग ग्रहण करना चाहिए। सामान्यतः लोग सोचते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मों को करने या कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी का कर्तव्य पूरा कर लेने से ही वे निर्भय हो जाते हैं या उन्हें निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु वस्तुतः जब तक इन सारे कर्मों को भक्तियोग के साथ-साथ सम्पन्न नहीं किया जाता तब तक कोई निर्भय नहीं हो सकता। *भगवद्‌गीता* में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि के वर्णन मिलते हैं, किन्तु जब तक भक्तियोग तक नहीं पहुँचा जाता, अन्य सारे योग जीवनसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भक्तियोग ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी भगवान् चैतन्य तथा रामानन्द राय के मध्य इस जगत से मोक्ष प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो वार्ता है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उस वार्ता में रामानन्द राय ने वर्णाश्रम धर्म के पालन का प्रसंग उठाया तो भगवान् चैतन्य ने इंगित किया कि वर्णाश्रम धर्म केवल बाह्य है (*एहो बाह्य*), अकेले वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों के पालन से मोक्ष की कोई गारंटी नहीं है। अन्त में रामानन्द राय ने भक्तियोग का उल्लेख किया—*स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्‌मनोभिः* (*भागवत* १०.१४.३)। मनुष्य चाहे जिस अवस्था में रहे, यदि वह भक्तियोग करता है, जिसका शुभारम्भ भक्तों के मुख से भगवान् के दिव्य सन्देश को सुनने (*श्रुतिगताम्*) से होता है, तो वह क्रमशः अजेय ईश्वर को जीत

लेता है।

ईश्वर को अजेय माना जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वाणी को विनयपूर्वक सुनता है, वह अजेय को जीत लेता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य को केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन नहीं करना चाहिए, अपितु किसी स्वरुपसिद्ध पुरुष से सुनना आरम्भ करके भक्तियोग में भी लगना चाहिए। इस विधि से भक्त अजेय भगवान् को जीत सकेगा और इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद उनका पार्षद बनेगा।

भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥५४॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; भक्ति-मता—भक्त द्वारा; लभ्यः—प्राप्य; दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन; सर्व-देहिनाम्—अन्य समस्त देहधारियों (जीवात्माओं) का; स्वाराज्यस्य—स्वर्ग के राजा का; अपि—भी; अभिमतः—अन्तिम लक्ष्य; एकान्तेन—तादात्म्य के द्वारा; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध का; गतिः—गन्तव्य।

हे भगवन्, स्वर्ग का राजा इन्द्र भी जीवन के परम लक्ष्य—भक्ति—को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। इसी प्रकार जो अपने को आपसे अभिन्न मानते हैं (*अहं ब्रह्मास्मि*), उनके भी एकमात्र लक्ष्य आप ही हैं। किन्तु आपको प्राप्त कर पाना उनके लिए अत्यन्त कठिन है जब कि भक्त सरलता से आपको पा सकता है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में आया है—*वेदेषु दुर्लभमदुर्लमात्मभक्तौ।* इससे सूचित होता है कि वैदिक साहित्य या वेदान्त दर्शन के अध्ययन-मात्र से जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर पाना और परम गंतव्य वैकुण्ठ लोक या गोलोक वृन्दावन तक पहुंच पाना कठिन है, किन्तु भक्तों को यह सर्वोच्च सिद्धि अवस्था सहज ही प्राप्य है। *ब्रह्म-संहिता* की उक्त पद का यही अर्थ है। शिवजी ने भी इस श्लोक में यही बात कही है। कर्मयोगियों, ज्ञान योगियों और ध्यान योगियों के लिए भगवान् को पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जो भक्तियोगी हैं उनके लिए यह रंच मात्र भी दुष्कर नहीं है। *स्वाराज्यस्य* शब्द में *स्वर* से स्वर्गलोक और *स्वाराज्य* से स्वर्गलोक के राजा इन्द्र का बोध होता है। सामान्यतः सभी कर्मी स्वर्ग जाना चाहते हैं, किन्तु स्वयं स्वर्ग का राजा इन्द्र चाहता है कि वह भक्तियोग में निष्णात बने। जो लोग अपने आपको *अहं ब्रह्मास्मि* कहते हैं, वे भी वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन पहुँच कर पूर्ण मोक्ष चाहते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है।—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

''भगवान् को यथारूप में केवल भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है और जब मनुष्य ऐसी भक्ति से भगवान् की पूर्ण चेतना में स्थित होता है, तो वह ईश्वर के धाम में प्रवेश कर सकता है।''

अत: स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को भक्तियोग के द्वारा भगवान् को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। मात्र भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य भगवान् को वास्तव में समझ सकता है किन्तु भक्तियोग समझे बगैर मनुष्य दिव्य लोक में प्रवेश नहीं कर सकता। कोई भले ही स्वर्गलोक को प्राप्त हो ले या अपने को ब्रह्म समझ ले (*अहं ब्रह्मास्मि*), किन्तु यह साक्षात्कार की इति नहीं है। मनुष्य को पहले भक्तियोग द्वारा भगवान् की स्थिति को समझना चाहिए, तभी उसे जीवन की वास्तविक सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहि: ॥५५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (तुमको); दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; आराध्य—पूजा करके; सताम् अपि—सत्पुरुषों के लिए भी; दुरापया—प्राप्त कर पाना दुष्कर; एकान्त—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; क:—ऐसा कौन है; वाञ्छेत्—चाहेगा; पाद-मूलम्—चरणकमल; विना—रहित; बहि:—बाहरी लोग।

हे भगवन्, शुद्ध भक्ति कर पाना तो मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, किन्तु आप हैं कि एकमात्र भक्ति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। अत: जीवन-सिद्धि का इच्छुक ऐसा कौन पुरुष होगा जो आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों को अपनाएगा?

तात्पर्य : *सताम्* शब्द अध्यात्मवादियों के लिए आया है। अध्यात्मवादी तीन प्रकार के होते हैं—*ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त*। इन तीनों में से भगवान् के पास पहुँचने वाला सर्वाधिक उपयुक्त प्रतिभागी केवल भक्त है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि जो भक्ति नहीं करते, वे भगवान् के चरणकमलों की खोज नहीं करते हैं। कभी कभी मुर्ख लोग यह मानते हैं कि ईश्वर किसी भी तरह से—*कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग* से—प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर यह अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त है कि केवल *भक्तियोग* से ही भगवत्कृपा प्राप्त हो सकती है। यहाँ पर *दुराराध्य* शब्द विशेष प्रयोजनीय है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से भगवान् के चरणकमल प्राप्त करना

दुष्कर है।

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन्वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; निर्विष्टम् अरणम्—शरणागत प्राणी; कृत-अन्तः—दुर्दम्य काल; न अभिमन्यते—आक्रमण नहीं करता; विश्वम्—समूचा ब्रह्माण्ड; विध्वंसयन्—संहार द्वारा; वीर्य—पराक्रम; शौर्य—प्रभाव; विस्फूर्जित—मात्र विस्तार से; भ्रुवा—भौंहों के।

उनके भृकुटि-विस्तार-मात्र से जो दुर्जेय काल तत्क्षण सारे ब्रह्माण्ड का संहार कर सकता है, वही दुर्जेय काल आपको चरणकमलों की शरण में गये भक्त के निकट तक नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा गया है कि मृत्युरूप में भगवान् मनुष्य के सारे वैभव को ध्वस्त कर देते हैं। *मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को निगलने वाला काल हूँ।" भगवान् मृत्यु के रूप में बद्धजीव द्वारा बनाई गई सारी वस्तुएँ छीन लेते हैं। इस संसार में प्रत्येक वस्तु काल के साथ विनष्ट होती रहती है। किन्तु काल अपनी सारी शक्ति के होते हुए भी भक्त के कार्यों में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाता, क्योंकि भक्त को भगवान् के चरणकमलों का पूर्ण आश्रय जो प्राप्त है। इसी कारण भक्त दुर्जेय काल से मुक्त है। जिन कर्मियों तथा ज्ञानियों का भक्ति से कोई वास्ता नहीं है उनके सारे कार्य कलाप काल के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। कर्मियों की भौतिक उन्नति को विनष्ट होना ही है, इसी प्रकार ज्ञानियों द्वारा निर्गुण साक्षात्कार भी समय के साथ विनष्ट हो जाता है।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रिय: ।

(*भागवत* १०.२.३२)

कर्मियों की तो छोड़िये, ज्ञानी तो निर्गुण ब्रह्मज्योति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु उन्हें भगवान् के चरणकमल प्राप्त नहीं होते, वे पुन: इस संसार में आ गिरते हैं। जब तक कोई शुद्ध भक्ति में स्थित न हो तब तक मोक्ष की कोई गारंटी नहीं रहती, भले ही उसे स्वर्गलोक या निर्गुण ब्रह्मज्योति ही क्यों न प्राप्त हो। किन्तु भक्त की उपलब्धि काल के प्रभाव से नष्ट नहीं होती। यदि भक्त ठीक से भक्ति नहीं भी कर पाता तो वह अगले जन्म में फिर वहीं से साधना प्रारम्भ करता है जहाँ से

छूट गई थी। किन्तु कर्मियों तथा ज्ञानियों को ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धियाँ विनष्ट हो जाती हैं। भक्त की उपलब्धि कभी नष्ट नहीं होती, वह निरन्तर बनी रहती है, चाहे पूरी हो या अधूरी। यही वैदिक शास्त्रों का मत है। *शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।* यदि मनुष्य भक्तियोग को पूरा नहीं कर पाता तो उसे अगले जीवन में शुद्ध भक्त के परिवार में या धनी परिवार में जन्म लेकर उसे पूरा करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में उसे भक्ति में और आगे प्रगति करने का अच्छा अवसर मिल पाता है।

मृत्यु का अधीक्षक यमराज जब अपने गणों को आदेश दे रहा था, तो उसने उन्हें भक्तों के पास न जाने को कह दिया। उसका कहना था, "भक्तों का सम्मान करो, किन्तु उनके निकट मत जाओ।" इस प्रकार भगवद्भक्त यमराज के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। यमराज भगवान् का प्रतिनिधि है और वह प्रत्येक जीव की मृत्यु को नियंत्रित करता है, तो भी उसे भक्तों से कुछ लेना-देना नहीं होता। वह काल जो पलक मारने की अवधि में समग्र दृश्य जगत का संहार कर सकता है, किन्तु उसे भक्तों से कोई सरोकार नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, भक्त अपने जीवन-काल में जितनी भक्ति करता है, वह काल द्वारा नष्ट नहीं हो सकता। काल के प्रभाव से परे होने के कारण यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सनातन बनी रहती है।

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥

शब्दार्थ

क्षण-अर्धेन—आधा क्षण; अपि—भी; तुलये—तुलना कर सकता; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः-भवम्—ब्रह्म से तादात्म्य; भगवत्—भगवान् के; सङ्गि—संगी; सङ्गस्य—संग का लाभ उठाने वाला; मर्त्यानाम्—बद्धजीव का; किम् उत—वहाँ क्या है; आशिषः—आशीर्वाद।

संयोग से भी यदि कोई क्षण भर के लिए भक्त की संगति पा जाता है, तो उसे कर्म और ज्ञान के फलों का तनिक भी आकर्षण नहीं रह जाता। तब उन देवताओं के वरदानों में उसके लिए रखा ही क्या है, जो जीवन और मृत्यु के नियमों के अधीन हैं?

तात्पर्य : यहाँ कर्मियों, ज्ञानियों तथा भक्तों में से भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का गीत है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते* (चैतन्य-चन्द्रामृत)। *कैवल्य* का अर्थ है भगवान् के तेज में लीन होना तथा *त्रिदशपूर देवताओं* के निवासस्थान स्वर्गलोक

का द्योतक है। इस प्रकार भक्त के लिए *कैवल्य-सुख* नरक के समान है, क्योंकि भक्त अपने व्यक्तित्व को खोकर ब्रह्मतेज में मिलने को आत्मघात मानता है। भक्त सदैव अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहता है, जिससे वह भगवान् की सेवा कर सके। दरअसल, वह स्वर्ग जाने को मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। भक्त के लिए क्षणिक सुख कोई अर्थ नहीं रखता। वह इतने उच्च पद पर रहता है कि उसे कर्म या ज्ञान के कर्मों में कोई रुचि नहीं रहती। आध्यात्मिक पद पर स्थित भक्त के लिए कर्म या ज्ञान के फल भी तुच्छ हैं। भक्तियोग ही भक्त को सारा सुख प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है— *ययात्मा सुप्रसीदति।* मनुष्य केवल भक्ति से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रह सकता है और यह भक्त की संगति से सम्भव है। शुद्ध भक्त से आशीर्वाद पाये बिना कोई न तो पूर्ण तुष्ट हो सकता है, न भगवान् की दिव्य स्थिति को ही समझ सकता है।

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहि:स्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५८॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; अनघ-अङ्घ्रे:—भगवान् के, जिनके चरण समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं; तव—तुम्हारी (आपकी); कीर्ति—कीर्ति महिमा; तीर्थयो:—पवित्र गंगा जल; अन्त:—भीतर; बहि:—बाहर; स्नान—स्नान करना; विधूत—धोया हुआ; पाप्मनाम्—मन की दूषित अवस्था; भूतेषु—सामान्य जीवों को; अनुक्रोश—कृपा या वर; सु-सत्त्व—पूर्णतया सतोगुण में; शीलिनाम्—ऐसे गुणों वालों का; स्यात्—हो; सङ्गम:—साथ, समागम; अनुग्रह:—कृपा; एष:—यह; न:—हमको; तव—तुम्हारी (आपकी)।

हे भगवन्, आपके चरणकमल समस्त कल्याण के कारण हैं और समस्त पापों के कल्मष को विनष्ट करने वाले हैं। अत: मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे अपने भक्तों की संगति का आशीर्वाद दें, क्योंकि आपके चरणकमलों की पूजा करने से वे पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और बद्धजीवों पर अत्यन्त कृपालु हैं। मेरी समझ में तो आपका असली आशीर्वाद यही होगा कि आप मुझे ऐसे भक्तों की संगति करने की अनुमति दें।

तात्पर्य : गंगा-जल सभी प्रकार के पापों के फलों का निवारण करने वाला माना जाता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति गंगा में स्नान करता है, तो उसके जीवन-भर के कल्मष धुल जाते हैं। गंगाजल की ऐसी महिमा का कारण यह है कि गंगाजी भगवान् के चरणकमलों से निकलती हैं। इसी प्रकार जो

प्रत्यक्ष भगवान् के चरणकमल के सम्पर्क में रहते हैं और जो उनके गुणों का गायन करते हैं, वे सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त ही सामान्य बद्धजीवों पर अनुग्रह कर सकते हैं। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर का गीत है कि भगवान् चैतन्य के भक्त इतने शक्तिशाली हैं कि उनमें से प्रत्येक भक्त एक ब्रह्माण्ड को बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। दूसरे शब्दों में, भक्तों का कार्य है कि वे भगवान् की महिमा का उपेदश करें और सभी बद्धजीवों को शुद्ध सत्त्व पद तक पहुँचाएँ। यहाँ पर *सु-सत्त्व* शब्द का अर्थ शुद्ध सत्त्व है, जो भौतिक सत्त्व से आगे की दिव्य अवस्था है। शिवजी अपनी विशिष्ट स्तुति के द्वारा हमें यह शिक्षा देते हैं कि सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् विष्णु तथा उनके वैष्णव भक्तों की शरण में जाया जाये।

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; बहिः—बाहरी; अर्थ—रुचि; विभ्रमम्—मोहित; तमः—अंधकार; गुहायाम्—कूप (गुफा) में; च—भी; विशुद्धम्—शुद्ध; आविशत्—प्रवेश किया; यत्—जो; भक्ति-योग—भक्ति; अनुगृहीतम्—कृपा प्राप्त; अञ्जसा—प्रसन्नतापूर्वक; मुनिः—विचारवान; विचष्टे—देखता है; ननु—फिर भी; तत्र—वहाँ; ते—तुम्हारे; गतिम्—कार्यकलाप।

जिसका हृदय भक्तियोग से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुका हो तथा जिस पर भक्ति देवी की कृपा हो, ऐसा भक्त कभी भी अंधकूप सदृश माया द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता। इस प्रकार समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर ऐसा भक्त आपके नाम, यश, स्वरूप, कार्य इत्यादि को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक समझ सकता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

शुद्ध भक्तों की संगति-मात्र से भगवान् के दिव्य नाम, यश, गुण तथा कार्य समझ में आ जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने बारम्बार कहा है—

'साधु-संग' 'साधु-संग'—सर्व शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य* २२.५४)

केवल शुद्ध भक्त की संगति करने से ही मनुष्य कृष्णचेतना में आश्चर्यजनक रूप से अग्रसर होता है। *साधु-संग* का अर्थ है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते हुए कृष्णचेतना (भक्ति) में लगे रहना और कृष्ण के लिए ही कार्य करना। हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन से मनुष्य शुद्ध हो जाता है, इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कीर्तन पर बल दिया है। *चेतो-दर्पण-मार्जनम्*—श्रीकृष्ण के नाम-जप से हृदय रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और भक्त को बाह्य बातों में अरुचि होने लगती है। जब मनुष्य भगवान् की माया के वश में रहता है, तो हृदय अशुद्ध रहता है; और जब हृदय शुद्ध नहीं रहता तो उसे यह नहीं दिखता कि वस्तुएँ भगवान् से किस प्रकार सम्बन्धित हैं। *इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः* (*भागवत* १.५.२०)। जिसका हृदय शुद्ध है उसके लिए यह सारा दृश्य जगत भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जिसका हृदय दूषित होता है उसे वस्तुएँ दूसरी तरह से दिखती हैं। अत: सत्संग से ही मनुष्य का हृदय पूरी तरह से शुद्ध हो सकता है।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, वह कभी भी माया द्वारा आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया प्रत्येक जीव को प्रकृति पर अधिकार जताने के लिए आकर्षित करती है। जब भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा भक्ति करता रहता है, तो उसका शुद्ध हृदय विचलित नहीं होता। भक्ति करने की कुल नौ विधियाँ हैं। शुद्ध मानस वाला भक्त कभी भी विचलित नहीं होता। भक्तियोग में महामंत्र का जप करते हुए दस अपराधों से तथा श्रीविग्रह की पूजा करते हुए चौंसठ अपराधों से बचना चाहिए। जब भक्त इन समस्त विधि-विधानों का पालन करता है, तो भक्तिदेवी उस पर परम प्रसन्न होती हैं और तब वह किसी बाहरी वस्तु से विचलित नहीं होता। भक्त को मुनि भी कहते हैं। मुनि का अर्थ है "विचारवान।" भक्त उतना ही विचारवान होता है जितना कि एक अभक्त कल्पनाशील। अभक्त की कल्पना अशुद्ध रहती है, किन्तु भक्त के विचार शुद्ध होते हैं। कपिल तथा शुकदेव गोस्वामी भी मुनि कहलाते हैं, किन्तु व्यासदेव को महामुनि कहा जाता है। भक्त को तभी मुनि कहते हैं जब वह भगवान् को शुद्धतापूर्वक समझ सके। निष्कर्ष यह निकला कि जब मनुष्य का हृदय भक्तों के सत्संग से तथा भगवान् के कीर्तन तथा पूजा करते समय अपराधों से बचने से शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् अपना दिव्य नाम, रूप तथा कार्यकलाप

प्रकट करते हैं।

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; इदम्—यह; व्यज्यते—प्रकट है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विश्वस्मिन्—दृश्य जगत में; अवभाति—प्रकट होता है; यत्—जो; तत्—वह; त्वम्—तुम (आप); ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म; परम्—दिव्य; ज्योति:—तेज; आकाशम्—अकाश; इव—सदृश; विस्तृतम्—फैला हुआ।

हे भगवन्, निर्गुण ब्रह्म सूर्य के प्रकाश अथवा आकाश की भाँति सर्वत्र फैला हुआ है। और जो सारे ब्रह्माण्ड भर में फैला है तथा जिसमें सारा ब्रह्माण्ड दिखाई देता है, वह निर्गुण ब्रह्म आप ही हैं।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सारा दृश्य जगत ब्रह्मज्योति पर आश्रित है। किन्तु निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि इतना विशाल दृश्य जगत एक व्यक्ति पर किस प्रकार से टिका है। इस प्रकार भगवान् की यह अकल्पनीय शक्ति उनकी समझ में नहीं आती; इसीलिए वे चकित रहते हैं और परमेश्वर को व्यक्ति रूप में सदा ही अस्वीकार करते रहते हैं। इस भ्रम को शिवजी स्वयं यह कर दूर करते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण धूप के समान सर्वव्यापी हैं। यह उदाहरण समझ पाना अत्यन्त सरल है। सारे लोक सूर्य के प्रकाश (धूप) पर टिके हैं, तो भी धूप तथा धूप का स्रोत (सूर्य) इन लोकों से पृथक् हैं। इसी प्रकार आकाश या वायु भी सर्वत्र फैले हैं। वायु घट के भीतर भी है और गन्दे तथा पवित्र स्थानों का भी एक जैसा स्पर्श करती है। किन्तु प्रत्येक दशा में आकाश अदूषित रहता है। इसी प्रकार धूप भी अपवित्र तथा पवित्र स्थानों का स्पर्श करती है और यद्यपि ये दोनों सूर्य द्वारा ही उत्पन्न हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में सूर्य समस्त गन्दी वस्तुओं से पृथक् रहता है। इसी प्रकार भगवान् सर्वत्र स्थित हैं। इस जगत में पवित्र तथा अपवित्र दोनों प्रकार की वस्तुएँ हैं, किन्तु शास्त्रों के अनुसार पवित्र वस्तुएँ भगवान् के सामने का भाग तथा अपवित्र वस्तुएँ भगवान् का पिछला भाग बताई गई हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित: ॥

''मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है। सारे जीव मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।''

भगवद्गीता का यह श्लोक बताता है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रत्येक वस्तु उन पर टिकी है, किन्तु वे उसमें नहीं रहते। इससे निष्कर्ष यह निकला कि बिना भक्तियोग के निर्विशेषवादी भी ब्रह्मतत्त्व को नहीं समझ सकते। वेदान्त सूत्र का कथन है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* इसका अर्थ है कि हमें ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म को समझना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी परम सत्य को अद्वितीय बताया गया है, किन्तु उनका बोध तीन रूपों में किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। भगवान् ही अन्तिम सत्य हैं और इस श्लोक में शिवजी पुष्टि करते हैं कि परम सत्य व्यक्ति हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—*तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम्।* यहाँ एक सामान्य उदाहरण दिया जा रहा है—एक सफल व्यापारी के कई फैक्टरियाँ तथा आफिस हैं और उसके आदेश से सारे कार्य चलते हैं। यदि कोई यह कहे कि सारा व्यापार अमुक व्यक्ति पर निर्भर है, तो उसके कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि सारी फैक्टरियाँ तथा आफिस उस व्यक्ति के सर पर टिके हैं। अपितु इसका अर्थ यह है कि वह अपने मस्तिष्क से या अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा अबाध रूप से अपना व्यापार चला रहा है। इसी प्रकार भगवान् की बुद्धि तथा शक्ति से भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का कार्य चल रहा है। यहाँ पर अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त बताया गया है, वह इस तथ्य से मेल खाता है कि समस्त शक्ति के परम स्रोत भगवान् कृष्ण हैं। इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह भी बताया गया है कि श्रीकृष्ण के निर्गुण स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

''हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ; वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हूँ, मैं आकाश में शब्द और मनुष्य में पौरुष हूँ।'' (*भगवद्गीता* ७.८)

इस प्रकार कृष्ण को प्रत्येक वस्तु की योग शक्ति माना जा सकता है।

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्

बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
त्वमात्मतन्त्रं भगवन्प्रतीमहि ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; मायया—माया से; इदम्—यह; पुरु—अनेक; रूपया—रूपों के द्वारा; असृजत्—उत्पन्न किया; बिभर्ति—पालन करता है; भूयः—पुनः; क्षपयति—संहार करता है; अविक्रियः—बिना किसी परिवर्तन के; यत्—जो; भेद-बुद्धिः—अन्तर करने की बुद्धि; सत्—शाश्वत; इव—सदृश; आत्म-दुःस्थया—अपने आपको कष्ट देते हुए; त्वम्—तुमको; आत्म-तन्त्रम्—पूर्णतया स्वतंत्र; भगवन्—हे भगवन्; प्रतीमहि—मैं समझता हूँ।

हे भगवन्, आपकी शक्तियाँ अनेक हैं और वे नाना रूपों में प्रकट होती हैं। आपने ऐसी ही शक्तियों से इस दृश्य जगत की उत्पत्ति की है और यद्यपि आप इसका पालन इस प्रकार करते हैं मानो यह चिरस्थायी हो, किन्तु अन्त में आप इसका संहार कर देते हैं। यद्यपि आप कभी-भी ऐसे परिवर्तनों द्वारा विचलित नहीं होते, किन्तु जीवात्माएँ इनसे विचलित होती रहती हैं, इसलिए वे इस दृश्य जगत को आपसे भिन्न अथवा पृथक् मानती हैं। हे भगवन्, आप सर्वदा स्वतंत्र हैं और मैं तो इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि श्रीकृष्ण की अनेक शक्तियाँ हैं, जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है—बहिरंगा शक्ति, अन्तरंगा शक्ति तथा तटस्था शक्ति। दृश्य जगत भी भिन्न-भिन्न हैं—यथा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) तथा भौतिक जगत। इसी प्रकार जीवात्माएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं—कुछ बद्ध हैं और कुछ नित्य मुक्त। नित्यमुक्त जीवात्माएँ कभी-भी माया के सम्पर्क में नहीं आतीं। किन्तु इस जगत में कुछ जीवात्माएँ बद्ध होती हैं और वे अपने को परमेश्वर से विलग मानती हैं। माया के सम्पर्क में रहने से इनका अस्तित्व सदा संकट में रहता है। सदैव संकट में रहने के कारण बद्धजीव माया को अत्यन्त कष्टप्रद समझता है। एक वैष्णव कवि ने इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

जब जीवात्मा परमात्मा को भूल जाता है और परमात्मा की नकल करते हुए स्वतंत्र रूप से भोग करना चाहता है, तो वह अपने को मिथ्या ही भोक्ता मान बैठता है और परमात्मा से विलग हो जाता है। अतः माया पराशक्ति जीवात्मा के लिए अत्यन्त कष्टप्रद है, किन्तु परमात्मा के लिए रंचमात्र भी नहीं। परमात्मा के लिए माया तथा पराशक्ति एकसमान हैं। इस श्लोक में शिवजी बताते हैं कि माया

कभी भी भगवान् के लिए कष्टप्रद नहीं होती। वे परम स्वतंत्र हैं, किन्तु जीवात्मा के स्वतंत्र न होने से माया कष्टप्रद है। फलत: अपरा शक्ति भेद उत्पन्न करती है।

किन्तु मायावादी विचारक इसे नहीं समझ सकते, इसलिए वे माया से मुक्ति चाहते हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक भगवान् को भलीभाँति समझता है, अत: माया में उसे किसी प्रकार का उपद्रव नहीं दिखता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की सेवा में माया का उपयोग करना जानता है। अपराध विभाग तथा प्रशासन विभाग भले ही नागरिकों की दृष्टि में पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, किन्तु सरकार के लिए तो ये दोनों विभाग एक जैसे हैं। अपराध विभाग अपराधियों के लिए कष्टप्रद है, किन्तु आज्ञाकारी नागरिकों के लिए नहीं। इसी प्रकार यह माया भले ही बद्धजीव के लिए कष्टप्रद हो, किन्तु भगवान् की सेवा में लगे हुए मुक्तजीवों से इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। *पुरुष अवतार* महाविष्णु के माध्यम से भगवान् ने इस समग्र दृश्य जगत की उत्पत्ति की। केवल श्वास से ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति करके वे भगवान् विष्णु के रूप में दृश्य जगत का पालन करते हैं। तब संकर्षण रूप में वे उसका संहार करते हैं। सृष्टि, पालन तथा संहार के बावजूद भगवान् अप्रभावित (निर्लिप्त) बने रहते हैं। भगवान् के ये कार्यकलाप तुच्छ जीवों के लिए भले ही उद्विग्न करने वाले हों, किन्तु अत्यन्त महान् होने के कारण भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भेद-बुद्धि द्वारा दृष्टिहीन हुए बिना शिवजी या कोई भी शुद्ध भक्त इसे स्पष्ट देख सकता है। भक्त के लिए भगवान् परमात्मा हैं और चूँकि वे परम शक्तिमान हैं, अत: उनकी शक्तियाँ भी दिव्य होती हैं। भक्त के लिए कुछ भी भौतिक नहीं होता, क्योंकि भौतिक जगत का अर्थ है भगवान् को विस्मृत करना।

क्रियाकलापैरिदमेव योगिन:
श्रद्धान्विता: साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्त:करणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदा: ॥ ६२॥

शब्दार्थ

क्रिया—कार्य; कलापै:—विधियों से; इदम्—यह; एव—निश्चय ही; योगिन:—योगीजन; श्रद्धा-अन्विता:—श्रद्धा तथा दृढ़ निश्चय से; साधु—उचित रीति से; यजन्ति—पूजा करते हैं; सिद्धये—सिद्धि के लिए; भूत—भौतिक शक्ति; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्त:-करण—हृदय; उपलक्षितम्—के द्वारा लक्षित; वेदे—वेदों में; च—भी; तन्त्रे—शास्त्रों में; च—भी; ते—आप; एव—निश्चय ही; कोविदा:—पटु, मर्मज्ञ।

हे भगवन्, आपका विराट रूप, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार (जो भौतिक हैं) तथा

आपके अंश रूप सर्व नियामक परमात्मा इन सभी पाँच तत्त्वों से बना है। भक्तों के अतिरिक्त अन्य योगी—यथा कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी—अपने-अपने पदों में अपने-अपने कार्यों द्वारा आपकी पूजा करते हैं। वेदों में तथा शास्त्रों में जो वेदों के निष्कर्ष हैं, कहा गया है कि केवल आप ही पूज्य हैं। सभी वेदों का यही अभिमत है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शिवजी भगवान् के उस रूप का दर्शन करना चाहते थे जिसमें भक्तों की रुचि सदा रहती है। भौतिक जगत में भगवान् के अन्य रूप भी प्रकट होते हैं जिसमें ब्रह्मा तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं और भौतिकतावादी लोग इन्हीं की पूजा करते हैं। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के तृतीय अध्याय (श्लोक १०) में कहा गया है कि जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं उन्हें विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए। निष्कर्ष रूप में भागवत् की संस्तुति है :-

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

भक्त, ज्ञानी (मोक्षकाम) तथा कर्मी (सर्वकाम) सभी भगवान् विष्णु की पूजा करना चाहते हैं। यज्ञ करते समय, जैसाकि यहाँ कहा गया है (*यज्ञकामैः*), मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि देवता परमेश्वर के दूत हैं। वास्तव में पूजनीय तो यज्ञेश्वर विष्णु हैं। इस प्रकार भले ही वैदिक तथा तांत्रिक यज्ञों में विभिन्न देवों की पूजा की जाती हो, यज्ञ के वास्तविक लक्ष्य तो भगवान् विष्णु हैं। अतः *भगवद्गीता* (९.२३) में उल्लेख है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

''हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य जो कुछ भी अन्य देवों को अर्पित करे, वह वास्तव में मेरे लिए ही होता है, किन्तु वह बिना वास्तविक ज्ञान के अर्पित किया गया होता है।''

इस प्रकार विभिन्न देवताओं के उपासक भी भगवान् की ही पूजा करते हैं, किन्तु वे नियामक सिद्धान्तों के विपरीत ऐसा करते हैं। अनुष्ठानों का प्रयोजन भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में इसी बात की पुष्टि की गई है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि कर्मी, ज्ञानी या योगी—वस्तुत: हर कोई-यदि वह वेदों तथा तंत्रों का वास्तव में मर्मज्ञ होता है, तो वह भगवान् विष्णु को ही पूजता है। *कोविदा:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के भक्तों का सूचक है। केवल भक्त ही इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत वे पाँच तत्त्वों तथा मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार द्वारा व्यक्त हैं। उन्हें एक अन्य शक्ति—जीव—के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है और भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में जितने भी प्राकट्य हैं, वे सब मिलकर भगवान् की विभिन्न शक्तियों को ही प्रदर्शित करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् एक हैं और उनका विस्तार हर वस्तु में होता है। इसे वैदिक सूक्ति—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—से समझा जा सकता है। जो इसे जानता है, वह भगवान् विष्णु की आराधना में ही अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित करता है।

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—अकेले; आद्यः—आदि; पुरुषः—पुरुष; सुप्त—सोई हुई; शक्तिः—शक्ति; तया—उससे; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—अज्ञान, तमोगुण; विभिद्यते—अनेक भेद हो जाते हैं; महान्—समष्टि शक्ति; अहम्—अहंकार; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; अग्नि—अग्नि; वाः—जल; धराः—पृथ्वी; सुर-ऋषयः—देवता तथा ऋषिगण; भूत-गणाः—जीव; इदम्—यह सब; यतः—जिससे।

हे भगवन्, आप समस्त कारणों के कारण एकमात्र परम पुरुष हैं। इस भौतिक जगत की सृष्टि के पूर्व आपकी भौतिक शक्ति सुप्त रहती है, किन्तु जब आपकी शक्ति गतिमान होती है, तो आपके तीनों गुण—सत्त्व, रज तथा तमो गुण—क्रिया करते हैं। फलस्वरूप समष्टि भौतिक शक्ति अर्थात् अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा विभिन्न देवता एवं ऋषिगण प्रकट होते हैं। इस प्रकार भौतिक जगत की उत्पत्ति होती है।

तात्पर्य : यदि सारी सृष्टि एक है अर्थात् परमेश्वर या विष्णु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो फिर मर्मज्ञ अध्यात्मवादी क्योंकर इस श्लोक में दी गई कोटियों का उल्लेख करते हैं? विद्वान् तथा विशेषज्ञ क्योंकर पदार्थ तथा आत्मा में भेद मानते हैं? इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप शिवजी कहते हैं कि आत्मा तथा

पदार्थ विचारकों द्वारा निर्मित नहीं हैं, अपितु भगवान् विष्णु द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*त्वमेक आद्य: पुरुष: ।* यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक कोटियाँ भगवान् द्वारा ही बनाई गई हैं, किन्तु भगवान् की सेवा में निरत जीवों के लिए ऐसा कोई विभेद नहीं होता। जो लोग भगवान् की नकल करके भोक्ता बनना चाहते हैं उनके लिए भौतिक जगत ही सब कुछ है। दरअसल यह भौतिक जगत सभी के सृष्टा आदि भगवान् की विस्मृति ही है। पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर भगवान् की सुप्त शक्ति का फल है, क्योंकि भगवान् उन जीवों को कुछ सुविधा प्रदान करना चाहते हैं, जो भगवान् के भोगों का अनुकरण करना चाहते हैं। केवल ऐसे जीवों के लिए ही भगवान् की सुप्त शक्ति से इस भौतिक जगत की उत्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी बच्चे अपनी माता के अनुकरण पर रसोईघर में भोजन पकाना चाहते हैं। ऐसे अवसर पर माता कुछ खिलौने लाकर रख देती है, जिससे बच्चे भोजन पकाने में लग जाँय और उसका अनुकरण कर सकें। इसी प्रकार जब कुछ जीव भगवान् के कार्यों का अनुकरण करना चाहते हैं, तो उनके लिए भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार भौतिक सृष्टि भगवान् की भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न होती है। भगवान् के दृष्टिपात करने से ही माया गतिशील होती है। उस समय प्रकृति के तीनों गुण गतिशील हो जाते हैं और सर्वप्रथम भौतिक शक्ति का प्राकट्य *महत् तत्त्व* के रूप में, फिर क्रमश: अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में होता है। सृष्टि के पश्चात् जीव दृश्य जगत में घुल-मिल जाते हैं और वे ब्रह्मा तथा सप्त ऋषियों के रूप में बाहर निकलते हैं, फिर विभिन्न देवता प्रकट होते हैं। देवताओं से मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी तथा अन्य सभी पदार्थ निकलते हैं। किन्तु आदि कारण तो भगवान् हैं जिसकी पुष्टि यहाँ पर—*त्वमेक आद्य: पुरुष:* द्वारा—हुई है। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में भी इसकी पुष्टि मिलती है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

जो लोग भौतिक शक्ति अर्थात् माया के वश में हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि प्रत्येक वस्तु का उद्भव भगवान् कृष्ण से हुआ है। इसका सारांश वेदान्त की इस उक्ति *जन्माद्यस्य यत:* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२)—में मिलता है। *भगवद्गीता* (१०.८) में कृष्ण ने भी इसी की पुष्टि की है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्‌गम हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्‌भूत है। बुद्धिमान लोग इसे भली भाँति जानते हुए मेरी सेवा में रत होते हैं और अपने अन्तःकरण से मेरी पूजा करते हैं।"

जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु के उद्‌गम हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवो*), तो उनका अभीष्ट यही रहता है कि वे ब्रह्मा, शिव, पुरुष अवतारों, भौतिक जगत तथा इस जगत के समस्त जीवों के भी उद्‌गम हैं। वस्तुतः *प्रभव* (सृष्टि) शब्द इस भौतिक जगत के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि आध्यात्मिक जगत तो शाश्वत है, उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। चतुःश्लोकी *श्रीमद्‌भागवत* में कृष्ण कहते हैं—*अहमेवासमेवाग्रे*—"मैं सृष्टि के पूर्व विद्यमान था" (भागवत २.९.३३)। वेदों में भी कहा गया है—*एको नारायणःआसीत्*—"सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे।" शंकराचार्य ने भी इसी की पुष्टि की है। *नारायणः परोऽव्यक्तात्*—"नारायण इस सृष्टि से परे हैं" (*गीताभाष्य*)। चूँकि नारायण के सारे कार्य आध्यात्मिक हैं, अतः जब उन्होंने कहा, "सृष्टि हो" तो वह सृष्टि आध्यात्मिक थी। "भौतिक" शब्द तो उनके मनों में विद्यमान हैं, जो यह भूल गये हैं कि नारायण ही आदि कारण हैं।

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्तर्
भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः ॥ ६४॥

शब्दार्थ

सृष्टम्—सृष्टि में; स्व-शक्त्या—अपनी ही शक्ति से; इदम्—इस दृश्य जगत में; अनुप्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; चतुः-विधम्—चार प्रकार के; पुरम्—शरीर; आत्म-अंशकेन—अपने ही अंश रूप; अथो—अतः; विदुः—जानो; तम्—उस; पुरुषम्—भोक्ता को; सन्तम्—स्थित; अन्तः—भीतर; भुङ्क्ते—भोग करता है; हृषीकैः—इन्द्रियों द्वारा; मधु—मिठास; सार-घम्—मधु, शहद; यः—जो।

हे भगवन्, आप अपनी शक्तियों के द्वारा सृष्टि कर लेने के बाद, सृष्टि में चार रूपों में प्रवेश करते हैं। आप जीवों के अन्तःकरण में स्थित होने के कारण उन्हें जानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे किस प्रकार इन्द्रिय-भोग कर रहे हैं। इस भौतिक जगत का तथाकथित सुख ठीक वैसा ही है जैसा कि शहद के छत्ते में मधु एकत्र होने के बाद मधुमक्खी द्वारा उसका आस्वाद।

तात्पर्य : यह दृश्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है और चूँकि निर्जीव पदार्थ स्वत: गतिमान नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् स्वयं इस भौतिक सृष्टि में अपने अंश रूप में (परमात्मा) प्रवेश करते हैं। वे अपने पृथक्-पृथक् अंशों (जीवों) के रूप में भी प्रविष्ट होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक सृष्टि को गतिशील करने के लिए इसमें प्रवेश करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक परा प्रकृति भी है, जिसमें सभी जीव समाहित हैं, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।''

किन्तु भौतिक जगत स्वत: कार्य नहीं कर सकता, अत: जीव चार प्रकार के शरीरों में इस के भीतर प्रवेश करते हैं। इस श्लोक का *चतुर्विधम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस जगत में चार प्रकार के जीव उत्पन्न हैं—ये हैं *जरायुज* (गुण से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्पन्न), *स्वेदज* (स्वेद से उत्पन्न) तथा *उद्भिज* (बीज से उत्पन्न)। ये जीव भले ही देखने मे कैसे ही लगें, ये सभी इन्द्रियभोग में लगे रहते हैं।

यहाँ पर भौतिकतावादी वैज्ञानिकों के इस विचार का निषेध हो जाता है कि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीवों में आत्मा नहीं होती। चाहे वे भ्रूण, अंडे, पसीने या बीज से क्यों न उत्पन्न हों, जीवों की चौरासी लाख योनियाँ भगवान् के ही अंश हैं, अत: इनमें से प्रत्येक में अलग से एक दिव्य ज्योति की चिनगारी तथा आत्मा है। जीव की कोटि का ध्यान न करते हुए कि वह मनुष्य है, पशु है, वनस्पति है, कीटाणु अथवा जीवाणु है, भगवान् प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित रहते हैं। वे ही सभी जीवों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए निर्देश देते हैं क्योंकि सभी जीव इस संसार में इन्द्रिय भोग की इच्छा पूरी करने के लिए आते हैं। इस तरह परमात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक जीव की इच्छाओं से परिचित हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्व चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते

हैं।''

समस्त जीवों के अन्त:करण में स्थित होने के कारण भगवान् उन्हें स्मृति (स्मरण शक्ति) प्रदान करते हैं जिससे वे वस्तुओं का भोग कर सकें। इस प्रकार जीव अपने-अपने मधुकोष (छत्ते) बनाकर उनका सुख लूटते हैं। मधुमक्खी का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जब मधुमक्खियाँ अपने मधुकोष का भोग करना चाहती हैं, तो उन्हें अन्य मक्खियों के दंश सहने पड़ते हैं। इस प्रकार जब मधुमक्खियाँ मधु की मिठास का आनन्द लूटती होती हैं, तो उसी के साथ ही उन्हें कष्ट भी सहने होते हैं क्योंकि मक्खियां एक दूसरे को काटती है। दूसरे शब्दों में, जीवों को कष्ट तथा आनन्द उठाने होते हैं, किन्तु भगवान् उनके सुखभोग की सारी योजनाओं से परिचित होने के कारण पृथक् रहते हैं। उपनिषदों में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का दृष्टान्त दिया गया है। एक पक्षी (जीव) वृक्ष के फल का भोग करता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) केवल उसे देखता रहता है। *भगवद्गीता* (१३.२३) में भगवान् को परमात्मा के रूप में *उपद्रष्टा* (साक्षी) तथा *अनुमन्ता* (अनुमति प्रदान करने वाला) कहा गया है।

इस प्रकार भगवान् जीवों के मात्र साक्षी बनकर उन्हें इन्द्रियभोग की अनुमति प्रदान करते हैं। परमात्मा ही बुद्धि के दाता हैं जिससे मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं, विभिन्न फूलों से मधु लाकर उसका संग्रह करती हैं और फिर उसका भोग करती हैं। यद्यपि परमात्मा जीवों से पृथक् रहता है, किन्तु उनके मनोभावों से परिचित होने के कारण उन्हें सुविधाएँ प्रदान करता है, जिससे वे अपने कर्मों के फल को भोग सकें। मानव-समाज मधुकोष के समान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न स्रोतों से मधु अथवा धन एकत्र करने तथा समष्टि सुख के लिए बड़े-बड़े राज्य बनाने में व्यस्त रहता है। किन्तु राज्य बन जाने पर अन्य राष्ट्र अपना दंशन प्रारम्भ करते हैं। कभी-कभी वे जब परस्पर युद्ध छेड़ देते हैं, तो मनुष्यों के मधुकोष दुख के मूल बन जाते हैं। यद्यपि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के मधु को भोगने के लिए अपने-अपने मधुकोश निर्मित करते हैं, किन्तु उसी के साथ वे अन्य व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के दंशन को भी सहते हैं। परमात्मा के रूप में भगवान् इन सारी गतिविधियों को देखते रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् तथा जीव दोनों ही इस भौतिक जगत में प्रवेश करते हैं। परमात्मा पूज्य है, क्योंकि उसने भौतिक जगत में जीवों के सुख की व्यवस्था की। किन्तु भौतिक जगत होने के कारण बिना मादकता

के कोई भी जीव किसी प्रकार का सुख भोग नहीं सकता। भौतिक सुख का अर्थ ही है मादकता, जबकि आध्यात्मिक भोग का अर्थ है, भगवान् के संरक्षण में विशुद्ध आनन्द।

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; लोकान्—सारे लोकों को; अति—अत्यधिक; चण्ड-वेगः—प्रचण्ड वेग; विकर्षसि—नष्ट करता है; त्वम्—तुम; खलु—फिर भी; काल-यानः—समय आने पर; भूतानि—सभी जीव; भूतैः—अन्य जीवों से; अनुमेय-तत्त्वः—परम सत्य का अनुमान लगाया जा सकता है; घन-आवलीः—बादल; वायुः—वायु; इव—सदृश; अविषह्यः—असह्य।

हे भगवन्, आपकी परम सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, किन्तु संसार की गतिविधियों को देखकर कि समय आने पर सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। काल का वेग अत्यन्त प्रचण्ड है और प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा विनष्ट होती जा रही है—जैसे एक पशु दूसरे पशु द्वारा निगल लिया जाता है। काल प्रत्येक वस्तु को उसी प्रकार तितर-बितर कर देता है, जिस प्रकार आकाश में बादलों को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है।

तात्पर्य : प्रकृति के नियमानुसार विनाशलीला चलती रहती है। इस संसार के भीतर कुछ भी स्थायी नहीं है, यद्यपि विज्ञानी, विचारक, कर्मी तथा अन्य लोग वस्तुओं को स्थायी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। एक सिरफिरे विज्ञानी ने हाल ही में घोषित किया है कि अन्ततः जीवन को विज्ञान के द्वारा स्थायी बना दिया जाएगा। कुछ तथाकथित विज्ञानी प्रयोगशाला में जीवों का निर्माण करने का भी प्रयास कर रहे हैं। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण भगवान् के अस्तित्व एवं उसकी परम सत्ता को नकारने में व्यस्त है। फिर भी भगवान् इतने शक्तिमान हैं कि वे मृत्यु के रूप में प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहते हैं—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को कालकवलित करने वाली मृत्यु हूँ।" भगवान् नास्तिकों के लिए मृत्यु-तुल्य हैं, क्योंकि भौतिक संसार में वे जो कुछ एकत्र करते हैं उसे भगवान् उठा लेता है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानता था और वह अपने पाँच वर्ष के पुत्र को ही मार डालना चाहता

था, क्योंकि उस बालक की भगवान् पर अटूट श्रद्धा थी। किन्तु समय आने पर भगवान् नृसिंहदेव के रूप में प्रकट हुए और पुत्र के समक्ष ही हिरण्यकशिपु का वध कर दिया। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१३.४७) में कहा गया है वध का यह कार्य प्राकृतिक है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—"एक पशु दूसरे पशु का भोजन है।" मेंढक को साँप खाता है, साँप को नेवला और नेवले को कोई अन्य जीव खाता है। इस प्रकार भगवान् की इच्छानुसार विनाश का क्रम चलता रहता है। यद्यपि इसमें हमें प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का कोई हाथ नहीं दिखता, किन्तु भगवान् की विनाशलीला से अनुभव होता है कि इसमें उनका हाथ है। हम यह देख सकते हैं कि वायु के द्वारा बादल तितर-बितर होते हैं, भले ही हम यह न देख पाएँ कि ऐसा किस प्रकार हो रहा है, क्योंकि वायु को देख पाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भले ही हम प्रत्यक्ष रूप से भगवान् को न देखें, किन्तु इतना तो हम देखते ही हैं कि किस प्रकार विनाशलीला उनके वश में है। भगवान् के नियंत्रण में विनाशलीला जोरों से चलती रहती है, किन्तु नास्तिक उसे देख नहीं पाते।

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

प्रमत्तम्—पागल पुरुष; उच्चैः—जोर से; इति—इस प्रकार; कृत्य—किये जाने वाले; चिन्तया—ऐसी इच्छा से; प्रवृद्ध—अत्यधिक अग्रसर; लोभम्—लालच; विषयेषु—भौतिक सुख में; लालसम्—ऐसा चाहते हुए; त्वम्—तुम; अप्रमत्तः—पूर्णतया समाधि में; सहसा—एकाएक; अभिपद्यसे—उन्हें पकड़ लेता है; क्षुत्—भूखा; लेलिहानः—लालची जीभ से; अहिः—साँप; इव—सदृश; आखुम्—चूहे को; अन्तकः—विनष्ट करने वाला, काल।

हे भगवन्, इस संसार के सारे प्राणी कुछ-न-कुछ योजना बनाने में पागल हैं तथा यह या वह करते रहने की इच्छा से काम में जुटे रहते हैं। अनियंत्रित लालच के कारण यह सब होता है। जीवात्मा में भौतिक सुख की लालसा सदैव बनी रहती है, किन्तु आप नित्य सतर्क रहते हैं और समय आने पर आप उस पर उसी प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार सर्प चूहे पर झपटता है और आसानी से निगल जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति लोभी होता है और वह भौतिक सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। भौतिक सुख की लालसा के कारण प्रत्येक जीवात्मा को प्रमत्त (पागल) कहा गया है।

भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"

हर कार्य प्रकृति के नियमों के अनुसार सम्पन्न होता है और ये नियम श्रीभगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। नास्तिक या मूढ़ इसे नहीं जानते। वे अपनी योजनाएँ बनाने में और बड़े-बड़े राष्ट्र अपने साम्राज्य विस्तृत करने में लगे रहते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि समय समय पर अनेक राज्य इस तरह बने और नष्ट हो गये। जनता की निदी मूर्खता से अनेक राज-परिवार अस्तित्व में आये, किन्तु कालक्रम में वे सब परिवार तथा राज्य नष्ट हो गये। तब भी मूढ़ नास्तिक लोग भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते। ऐसे मूर्ख लोग अनावश्यक रूप से भगवान् की परम सत्ता को माने बगैर अपने-अपने कार्य गढ़ते रहते हैं। तथाकथित राजनीतिज्ञ अपने-अपने राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए योजनाएँ बनाने में लगे रहते हैं, किन्तु सच तो यह है कि वे अपने पद को ऊपर उठाने में ही लगे रहते हैं। भौतिक पद की अपनी लालसा के लिए वे जनता के समक्ष अपने को नेता रूप में प्रस्तुत करते हैं और उनसे वोट बटोरते हैं यद्यपि वे पूर्ण रूप से प्रकृति के नियमों की पकड़ में होते हैं। ये आधुनिक सभ्यता के कुछ दोष हैं। ईश्वर-भक्ति तथा भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना जीवात्माएँ अन्ततः अपनी ही योजनाओं से उद्विग्न और भ्रमित हो उठती हैं। आर्थिक विकास की अवैध योजनाओं के फलस्वरूप विश्वभर में वस्तुओं के दाम प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं जिससे निर्धन वर्ग का जीवन दूभर गया है और वे इस का परिणाम भोग रहे हैं। कृष्णचेतना (भक्ति) के अभाव से लोग तथाकथित नेताओं तथा योजना बनाने वालों से ठगे जाते हैं। फलस्वरूप लोगों के कष्ट बढ़ते जाते हैं। प्रकृति के नियमों के अनुसार जो परमेश्वर से अनुमोदित है, इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता; अतः अपनी रक्षा के लिए सबों को परमेश्वर की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

"मुनिजन मुझे ही समस्त यज्ञों तथा तपों का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी एवं शुभचिन्तक समझ करके भौतिक कष्टों से शान्ति प्राप्त करते हैं।"

यदि कोई अपनी मन:शान्ति तथा समाज में अमन चैन चाहता है, तो उसे भगवान् को वास्तविक भोक्ता मान लेना चाहिए। भगवान् सारे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का स्वामी (अधिष्ठाता) और साथ ही सारे जीवों का परम मित्र भी है। इसे समझकर ही लोग व्यष्टि तथा समष्टि रूप से प्रसन्नता से तथा शान्तिपूर्वक रह सकते हैं।

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥ ६७॥

शब्दार्थ

कः—कौन; त्वत्—तुम्हारे; पद-अब्जम्—चरणकमल; विजहाति—अवहेलना करेगा; पण्डितः—विद्वान; यः—जो; ते—तुमको; अवमान—उपेक्षा करते हुए; व्ययमान—घटाते हुए; केतनः—यह शरीर; विशङ्कया—बिना किसी सन्देह के; अस्मत्—हमारे; गुरुः—गुरु, पिता; अर्चति स्म—पूजा करता था; यत्—जो; विना—बिना; उपपत्तिम्—विक्षोभ; मनवः—मनुगण; चतुः-दश—चौदह।

हे भगवन्, कोई भी विद्वान् पुरुष जानता है कि आपकी पूजा के बिना सारा जीवन व्यर्थ है। भला यह जानते हुए वह आपके चरणकमलों की उपासना क्यों त्यागेगा? यहाँ तक कि हमारे गुरु तथा पिता ब्रह्मा ने बिना किसी भेदभाव के आपकी आराधना की और चौदहों मनुओं ने उनका अनुसरण किया।

तात्पर्य : *पंडित* शब्द का अर्थ है, "ज्ञानी मनुष्य या ज्ञानवान्।" वास्तव में ज्ञानी मनुष्य कौन है? *भगवद्गीता* (७.१९) में ज्ञानी मनुष्य को इस प्रकार बताया गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेक जन्मजन्मांतरों के बाद जो वास्तव में ज्ञानवान है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण तथा मैं ही सब कुछ हूँ, समझ कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

इस तरह जब कोई ज्ञानी मनुष्य अनेक जन्मों तथा आत्म–साक्षात्कार के अनेक सनकी प्रयासों के बाद सचमुच ज्ञानी बनता है, तो वह भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति या महात्मा जानता है कि वासुदेव कृष्ण ही सब कुछ हैं (*वासुदेव: सर्वमिति*)। पंडितजन सदैव सोचते हैं कि बिना कृष्ण की पूजा किये या उनका भक्त बने यह जीवन व्यर्थ है। श्रील रूप गोस्वामी भी कहते हैं कि जब मनुष्य महान् भक्त बन जाता है, तो उसकी समझ में आता है कि उसे संयत तथा धैर्यवान् (*क्षान्ति:*) होना चाहिए और उसे समय न गँवाकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए (*अव्यर्थ कालत्वम्*)। उसे समस्त भौतिक आकर्षण से विरक्त होना चाहिए (*विरक्ति:*) और उसे अपने कर्मों के बदले में किसी प्रकार के सम्मान की कामना नहीं करनी चाहिए (*मानशून्यता*); उसे विश्वास होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उस पर कृपा करेंगे(*आशाबन्ध:*); उसे सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए (*समुत्कण्ठा*)। ज्ञानी सदैव कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् की महिमा का गान करने के लिए उत्सुक रहता है (*नाम–गाने सदा रुचि:*) और भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करते अघाता नहीं (*आसक्तिस्तद्गुणाख्याने*)। उसे भगवान् की लीलास्थलियों के प्रति भी आकर्षण होना चाहिए (*प्रीतिस्तद्वसतिस्थले*)। ये सिद्ध भक्त के लक्षण हैं।

एक महान् भक्त या पूर्ण पुरुष जो वास्तव में पंडित है, वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा का परित्याग नहीं कर सकता। यद्यपि ब्रह्मा की आयु दीर्घ (४,३२,००,००,००० वर्ष ब्रह्मा के एक दिन अथवा १२ घंटे के बराबर है) है, तो भी ब्रह्माजी मृत्यु से भयभीत रहते हैं और भगवान् की भक्ति करते हैं। इसी प्रकार सारे मनु भी, जो ब्रह्मा के दिन में प्रकट होते तथा विलुप्त होते रहते हैं, भगवान् की भक्ति करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु प्रकट होते तथा लुप्त होते हैं। प्रथम मनु स्वायम्भुव मनु हैं। प्रत्येक मनु ७१ युगों तक जीवित रहता है जिनमें से प्रत्येक युग ४३,२०००० वर्षों का होता हैं। इस तरह यद्यपि मनुओं की आयु काफी लम्बी होती है, किन्तु वे अगले जीवन के लिए भगवान् की भक्ति करते रहकर तैयारी करते हैं। इस युग में मनुष्य केवल साठ से अस्सी वर्ष तक जीवित रहता है और यह लघु आयु भी क्रमश: घटती जा रही है। इसलिए मनुष्यों के लिए और भी आवश्यक है कि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के बताये हरे कृष्ण मंत्र के सतत कीर्तन द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा करें।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ॥

(*शिक्षाष्टक* ३)

जब कोई भक्ति में व्यस्त रहता है, तो उसके चारों ओर ईर्ष्यालु लोग रहते हैं और प्राय: उसके शत्रु उसे परास्त करना चाहते हैं या उसकी भक्ति को भंग करना चाहते हैं। इस युग के लिए यह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल में भी भगवद्‌भक्ति में व्यस्त प्रह्लाद महाराज को उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु ने यातना पहुँचाई थी। नास्तिक सदैव भक्त को तंग करने के लिए उद्यत रहते हैं; अत: चैतन्य महाप्रभु ने सुझाव दिया है कि मनुष्य को ऐसे लोगों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। तो भी मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते रहना चाहिए और उसका उपदेश भी करना चाहिए, क्योंकि ऐसे उपदेश तथा कीर्तन से ही जीवन-सिद्धि मिलती है। मनुष्य को सभी प्रकार से अपने जीवन को पूर्ण रूप से सिद्ध बनाने की आवश्यकता का प्रचार करना चाहिए और कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की भक्ति में लगा रहे और ब्रह्मा इत्यादि पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चले।

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन्परमात्मन्विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; त्वम्—तुम, हे स्वामी; असि—हो; नः—हमारे; ब्रह्मन्—हे परब्रह्म; परम-आत्मन्—हे परमात्मा; विपश्चिताम्—विद्वान मनुष्यों के लिए; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; रुद्र-भय—रुद्र से भयभीत; ध्वस्तम्—संहार किया हुआ; अकुतश्चित्-भया—निश्चित रूप से निर्भर, भयशून्य; गतिः—गन्तव्य, आश्रय।.

हे भगवन्, जो वास्तव में विद्वान् मनुष्य हैं, वे सभी आपको परब्रह्म एवं परमात्मा के रूप में जानते हैं। यद्यपि सारा ब्रह्माण्ड भगवान् रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि वे अन्ततः प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने वाले हैं, किन्तु विद्वान् भक्तों के लिए आप निर्भय आश्रय हैं।

तात्पर्य : इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए तीन महाधीश हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव (महेश्वर)। प्रलय के समय यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। विराट शरीर तथा जीव का लघु शरीर दोनों ही चरम अन्त में विनाशशील हैं। किन्तु भक्तों को शरीर-विनाश का कोई भय नहीं रहता, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास होता है कि विनाश के बाद वे अपने घर अर्थात् भगवान् के धाम

वापस जायेंगे (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिसोऽर्जुन*)।

यदि कोई दृढ़तापूर्वक भक्तियोग का अनुसरण करता है, तो उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता, क्योंकि उसका भगवान् के धाम वापस जाना पूर्वनिश्चित है। अभक्त ही मृत्यु से डरते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी कोई गारंटी नहीं होती कि वे कहाँ जाएँगे या अगले जन्म में उन्हें किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इस श्लोक का *रुद्रभय* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रुद्र अर्थात् शिवजी ही 'रुद्रभय' की बात कर रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रुद्र भी कई हैं—इनकी संख्या ग्यारह है और ये रुद्र (शिव), जो भगवान् की स्तुति कर रहे हैं, अन्य रुद्रों से भिन्न हैं, यद्यपि ये भी उन्हीं के समान शक्तिमान हैं। निष्कर्ष यह निकला कि एक रुद्र दूसरे रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक इस दृश्य जगत के संहार में लगा रहता है। किन्तु भक्त की दृष्टि में तो प्रत्येक व्यक्ति रुद्र से डरता है, यहाँ तक कि स्वयं रुद्र भी। भक्त कभी भी रुद्र से नहीं डरता, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों की शरण में रहने से वह सदैव सुरक्षित रहता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे अर्जुन! तुम यह स्पष्ट घोषणा कर सकते हो कि मेरा (भगवान् श्रीकृष्ण का) शुद्ध भक्त किसी भी दशा में विनष्ट नहीं होता।"

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; जपत—जपते हुए; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुम सभी; विशुद्धाः—शुद्ध; नृप-नन्दनाः—राजा के पुत्र; स्व-धर्मम्—अपने-अपने कार्य; अनुतिष्ठन्तः—करते हुए; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित कर; आशयाः—समस्त आज्ञाकारिता से युक्त।

हे राजपुत्रो, तुम लोग विशुद्ध हृदय से राजाओं की भाँति अपने-अपने नियत कर्म करते रहो। भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करते हुए इस स्तुति (स्तोत्र) का जप करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा, क्योंकि इससे भगवान् तुम पर अत्यधिक प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा की गई स्तुति अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। अपने कर्म में लगे रहते हुए भी परमेश्वर की स्तुति करने मात्र से मनुष्य पूर्ण बन सकता है। जीवन का असली उद्देश्य तो भगवद्भक्त बनना है। इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि उसकी सामाजिक स्थिति क्या है। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अमरीकी, अंग्रेज, भारतीय, इस संसार में कहीं भी रहकर

श्रीभगवान् की स्तुति करके भक्ति की जा सकती है। हरे कृष्ण महामंत्र भी स्तुति ही है, क्योंकि स्तुति में भगवान् को नाम से सम्बोधित किया जाता है और भगवान् से विनय की जाती है कि वे सौभाग्य का वरदान देकर अपनी भक्ति में लगायें। हरे कृष्ण महामंत्र भी कहता है, ''हे भगवान् कृष्ण, हे भगवान् राम, हे भगवान् की शक्ति हरे! कृपया मुझे अपनी सेवा में लगाइये।'' भले ही कोई निम्न वर्ग का क्यों न हो, वह हर अवस्था में भक्ति कर सकता है जैसाकि *भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—*अहैतुक्यप्रतिहता:*—''भक्ति को किसी भी भौतिक दशा में रोका नहीं जा सकता।'' भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही विधि बताई है।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(भागवत १०.१४.३)

मनुष्य अपनी स्थिति में रहते हुए अथवा अपना कर्म करते हुए सिद्ध पुरुषों से भगवान् के सन्देश को सुन सकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है और हम लोग संसार भर में श्रीकृष्ण के सन्देश को सुनने का अवसर प्रदान करने के लिए विभिन्न केन्द्र खोल रहे हैं जिससे लोग अपने घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकें।

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; एव—निश्चय ही; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने हृदय में; सर्व—समस्त; भूतेषु—प्रत्येक जीव में स्थित; अवस्थितम्—स्थित; पूजयध्वम्—उनकी पूजा करो; गृणन्त: च—सदैव कीर्तन करते हुए; ध्यायन्त: च—ध्यान करते हुए; असकृत्—निरन्तर; हरिम्—श्रीभगवान् का।

अत: हे राजकुमारो, भगवान् सबके हृदयों में स्थित हैं। वे तुम लोगों के भी हृदयों में हैं, अत: भगवान् की महिमा का जप करो और निरन्तर उसी का ध्यान करो।

तात्पर्य : *असकृत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ 'कुछ पलों के लिए' नहीं, अपितु ''अनवरत रूप से'' है। यही आदेश भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में दिया है। *कीर्तनीय:*

सदा हरिः—"भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन चौबीसों घण्टे करना चाहिए।" अतः इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में भक्तों को नित्यप्रति सोलह बार माला का जप करने के लिए कहा जाता है। वास्तव में ठाकुर हरिदास की भाँति भगवन्नाम का चौबीसों घण्टे जप ही करना चाहिए। वे दिन में ३ लाख बार नाम-जप करते थे। दरअसल इसके सिवाय उनके पास कोई दूसरा काम ही न था। रघुनाथ दास गोस्वामी जैसे अन्य कुछ गोस्वामी भी नियमपूर्वक जप करते तथा नमस्कार करते थे। जैसाकि *षड्-गोस्वामी-अष्टक* में श्रीनिवासाचार्य ने स्तुति की है—*सङ्ख्यापूर्वक नाम गान-नतिभिः कालावसानीकृतौ। संख्यापूर्वक* शब्द का अर्थ है "गिनती को स्थिर बनाये रखते हुए।" रघुनाथ दास गोस्वामी न केवल भगवन्नाम का जप करते थे, वरन् उसी त्वरा से वे नमस्कार भी करते थे।

चूँकि ये राजकुमार भगवान् की पूजा के लिए पहले से तपस्या करने जा रहे थे, अतः शिवजी ने उन्हें उपदेश दिया कि वे भगवान् का निरन्तर जप तथा ध्यान करते रहें। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की वैसी ही स्तुति की जैसी कि उनके पिता ब्रह्मा ने उन्हें बतलाई थी। इस प्रकार से वे परम्परा-पद्धति के अनुसार राजकुमारों को उपदेश दे रहे थे। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल गुरु से प्राप्त आदेशों के अनुसार आचरण करे वरन् अपने शिष्यों में भी इस ज्ञान का वितरण करता चले।

आत्मानमात्मस्थं सर्व भूतेष्ववस्थितम् शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सारे जीवों के उद्‌गम हैं। चूँकि सारे जीव उनके भिन्नांश हैं, अतः वे सबके पिता हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण परमेश्वर को अपने हृदय के भीतर खोजा जा सकता है। इस श्लोक में भगवान् की पूजा-विधि को अत्यन्त सरल एवं पूर्ण बताया गया है, क्योंकि कहीं भी और किसी भी अवस्था में होते हुए भगवान् के नाम का केवल जप करना चाहिए। कीर्तन तथा श्रवण से स्वतः ही मनुष्य ध्यान में लग जाता है।

योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

योग-आदेशम्—भक्तियोग का यह आदेश; उपासाद्य—निरन्तर पढ़ते हुए; धारयन्तः—तथा आत्मसात करते हुए; मुनि-व्रताः—मुनियों का व्रत, मौन व्रत लो; समाहित—मन में सदैव स्थिर, एकाग्रभाव से; धियः—बुद्धि से; सर्वे—तुम सब; एतत्—यह; अभ्यसत—अभ्यास करो; आदृताः—अत्यन्त आदरपूर्वक ।

हे राजपुत्रो, मैंने स्तुति के रूप में तुम्हें पवित्र नाम-जप की योगपद्धति बतला दी है। तुम सब इस स्तोत्र को अपने मनों में धारण करते हुए इस पर दृढ़ रहने का व्रत लो जिससे तुम महान् मुनि बन सको। तुम्हें चाहिए कि मुनि की भाँति मौन धारण करके तथा ध्यानपूर्वक एवं आदर सहित इसका पालन करो।

तात्पर्य : हठयोग पद्धति में मनुष्य को ध्यान, धारणा, आसन इत्यादि शारीरिक आसन करने होते हैं। उसे एक स्थान पर विशेष आसन लगा करके अपनी नाक के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होती है। हठयोग पद्धति में इतने सारे विधि-विधान हैं कि इस युग में उन्हें कर पाना कठिन है। किन्तु भक्तियोग की वैकल्पिक पद्धति न केवल इस युग के लिए वरन् अन्य युगों के लिए भी अत्यन्त सहज है, क्योंकि इस योग-पद्धति का उपदेश शिवजी द्वारा महाराज प्राचीन बर्हिषत् के पुत्रों को दिया गया था। भक्तियोग-पद्धति कोई नवीन नहीं है, क्योंकि पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को सर्वोच्च योग के रूप में बतलाया था। *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"योगियों में से जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे भली-भाँति संयुक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है।"

सर्वोच्च योगी वह है, जो अपने भीतर श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करता है और भगवान् की महिमा का कीर्तन करता रहता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का भक्तियोग अनन्त काल से चला आ रहा है और अब इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में चालू है।

इस प्रसंग में *मुनि-व्रतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें मौन रहना चाहिए। मौन का अर्थ है केवल कृष्ण-कथा की बात करना या कृष्ण का गुणानुवाद। यह मौन महाराज अम्बरीष जैसा है—*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने*—"राजा अम्बरीष ने सदैव भगवान् के चरणकमल में ही अपने मन को स्थिर रखा और और उन्हीं का गुणानुवाद किया" (*भागवत* ९.४.१९)। हमें चाहिए कि हम इस जीवन के अवसर को

महान् संत बनने में लगाएं और इसका उपयोग अवांछित व्यक्तियों से व्यर्थ बातें करने में न करें। हमें या तो कृष्ण का गुणानुवाद करना चाहिए या हरे कृष्ण का कीर्तन करना चाहिए। यह मुनिव्रत कहलाता है। बुद्धि को अत्यन्त प्रखर होना चाहिए (*समाहित-धिय*) तथा कृष्णभक्ति की दिशा में कार्य करना चाहिए। *एतदभ्यसतादृता:* शब्द बताते हैं कि यदि इन आदेशों को गुरु से आदरपूर्वक प्राप्त किया जाये और विधिपूर्वक इनका अभ्यास किया जाये तो यह भक्तियोग अत्यन्त सरल लगेगा।

इदमाह पुरास्माकं भगवान्विश्वसृक्पतिः ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; आह—कहा; पुरा—पहले; अस्माकम्—हमसे; भगवान्—स्वामी; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; पतिः—स्वामी; भृगु-आदीनाम्—भृगु इत्यादि ऋषियों का; आत्मजानाम्—उनके पुत्रों का; सिसृक्षुः—उत्पत्तिके इच्छुक; संसिसृक्षताम्—सृष्टि के लिए उत्तरदायी।

सर्वप्रथम समस्त प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्मा ने हमें यह स्तुति सुनायी थी। भृगु आदि प्रजापतियों को भी इसी स्तोत्र की शिक्षा दी गई थी, क्योंकि वे सन्तानोत्पत्ति करना चाह रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया; फिर ब्रह्मा ने शिव तथा भृगुमुनि इत्यादि अन्य ऋषियों—मरीचि, आत्रेय, वसिष्ठ तथा अन्य—को उत्पन्न किया। इन सब ऋषियों को सन्तान उत्पन्न करने का भार सौंपा गया था। चूँकि प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अत: विष्णु ने सन्तान उत्पन्न करने का कार्य ब्रह्मा को सौंपा और ब्रह्मा ने सृष्टि बनाये रखने के लिए हजारों देवता तथा ऋषि उत्पन्न किये। साथ ही ब्रह्मा ने अपने पुत्रों तथा शिष्यों को यह स्तुति, जिसे शिवजी सुना रहे हैं, सुनाकर सचेत किया कि भौतिक सृष्टि का अर्थ है भौतिक व्यस्तता, किन्तु इस व्यस्तता का निराकरण भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को सदैव स्मरण करते हुए किया जा सकता है, जैसाकि शिवजी द्वारा की गई इस स्तुति में बताया गया है। इस प्रकार से हम भगवान् के निरन्तर सम्पर्क में रह सकते हैं। इस तरह सृष्टि में व्यस्तता के बावजूद हम कृष्ण-भक्ति के पथ से विचलित नहीं होंगे। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन विशेष रूप से इसी प्रयोजन से चलाया गया है। इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में बताये गये वृत्तिपरक कर्म में लगा रहता है। यह ठीक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, किन्तु यदि वे अपने पहले कर्तव्य—भगवान् से निरन्तर सम्पर्क रखने—को स्मरण रखते हैं, तो सब कुछ सफल हो जाएगा। यदि वे केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन

करने में लगे रहते हैं और भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण नहीं करते तो उनका सारा व्यापार तथा सारा वर्णाश्रम धर्म मात्र समय का अपव्यय होगा। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.८) में इसकी पुष्टि की गई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

निष्कर्ष यह है कि अपने-अपने वृत्तिपरक कर्म को निबाहते हुए कृष्णभक्ति के कार्य में बाधा नहीं पहुँचने देना चाहिए। मात्र *श्रवणं कीर्तनं* की भक्ति करनी चाहिए। अपने कर्म (धर्म) को नहीं छोड़ना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

"मनुष्य अपना कर्म करता हुआ जीवों के उद्गम तथा सर्वव्यापी भगवान् की पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है।"

इस प्रकार मनुष्य अपना कर्म करता रह सकता है, किन्तु यहाँ पर शिवजी ने जो स्तुति बताई है यदि उससे मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, तो उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल हो जाता है। *स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्* (*भागवत* १.२.१३)। हमें अपना कर्म तो करना ही चाहिए, किन्तु यदि हम अपने कर्मों से भगवान् को प्रसन्न कर सकें तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

ते—उसके द्वारा; वयम्—हम सब; नोदिताः—आज्ञापित; सर्वे—सभी; प्रजा-सर्गे—प्रजा उत्पन्न करते समय; प्रजा-ईश्वराः—समस्त जीवों के नियन्ता; अनेन—इसके द्वारा; ध्वस्त-तमसः—सभी प्रकार के अज्ञान से मुक्त होकर; सिसृक्ष्मः—हमने उत्पन्न किया; विविधाः—अनेक प्रकार के; प्रजाः—जीव।

जब ब्रह्मा द्वारा हम सब प्रजापतियों को प्रजा उत्पन्न करने का आदेश हुआ तो हमने भगवान् की प्रशंसा में इस स्तोत्र का जप किया जिससे हम समस्त अविद्या से पूरी तरह से मुक्त हो गये। इस तरह हम विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति कर पाये।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकसाथ अनेक प्रकार के

जीव उत्पन्न हुए। यहाँ पर अर्थहीन डार्विन का विकासवाद लागू नहीं होता। ऐसा नहीं है कि लाखों वर्ष पूर्व बुद्धिमान मनुष्य का अस्तित्व न था। उल्टा यह पता चलता है कि सबसे बुद्धिमान प्राणी ब्रह्माजी सबसे पहले उत्पन्न हुए। तब ब्रह्माजी ने मरीचि, भृगु, आत्रेय, वसिष्ठ तथा शिव जैसे साधु पुरुषों को उत्पन्न किया। तब उन्होंने कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न किए। *श्रीमद्भागवत* में कपिल देव ने अपनी माता को बताया है कि जीवात्मा को अपने कर्म के अनुसार विशेष शरीर प्राप्त होता है और उच्चतर अधिकारी ही इस शरीर के विषय में निर्णय करते हैं। ये उच्चतर अधिकारी भगवान् द्वारा नियुक्त होते हैं और इनके नाम हैं—ब्रह्मा, मनु तथा अन्य प्रजापति। इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से ही यह देखा जा सकता है कि सब से पहला जीव सबसे अधिक बुद्धिमान था। ऐसा नहीं है कि तथाकथित आधुनिक बुद्धि विकास की क्रमिक प्रक्रिया से विकसित हुई हो। जैसाकि *ब्रह्म-वैवर्त पुराण* में कहा गया है, क्रमिक विकास होता तो है, किन्तु शरीर का विकास नहीं होता। सारे शारिरिक रूप पहले से रहते हैं। केवल शरीर के भीतर का आत्म स्फुलिंग ही प्रकृति के नियमों द्वारा श्रेष्ठ अधिकारी के अधीक्षण में प्रगति करता है। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से विभिन्न प्रकार के जीव विद्यमान थे। ऐसा नहीं है कि उनमें से कुछ विलुप्त हो गये हैं। सब कुछ यहाँ पर हैं, केवल ज्ञान के अभाव के कारण हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं देख पा रहे हैं।

इस श्लोक का *ध्वस्त-तमस:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अज्ञान से मुक्त हुए बिना विभिन्न प्रकार के जीवों की उत्पत्ति को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है— *दैवनेत्रेण*—श्रेष्ठ अधिकारियों के नियंत्रण में ही शरीर मिलता है। यदि ये श्रेष्ठ अधिकारी सभी प्रकार की अपूर्णताओं से मुक्त नहीं होंगे तो वे जीवों के विकास को किस प्रकार नियंत्रित कर सकेंगे? वैदिक अनुदेशों के माननेवाले डार्विन के विकासवाद को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि यह अधूरे ज्ञान के कारण विकसित है।

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहित: पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायण: ॥ ७४॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इदम्—यह; नित्यदा—नियमित रूप से; युक्तः—मनोयोग से; जपन्—मन के भीतर जपने से; अवहितः—पूर्ण रूप से सतर्क; पुमान्—मनुष्य; अचिरात्—अविलम्ब; श्रेयः—कल्याण; आप्नोति—प्राप्त करता है; वासुदेव-परायणः—भगवान् कृष्ण का भक्त।

भगवान् कृष्ण के भक्त जिसका मन सदैव उन्हीं में लीन रहता है और जो अत्यन्त ध्यान तथा आदरपूर्वक इस स्तोत्र का जप करता है शीघ्र ही जीवन की परम सिद्धि प्राप्त होगी।

तात्पर्य : सिद्धि का अर्थ है भगवान् कृष्ण का भक्त बनना। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.२८) में कहा गया है—*वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।* जीवन का चरम लक्ष्य वासुदेव या श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का कोई भी भक्त केवल स्तुति करने से समस्त सिद्धि, भौतिक लाभ तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बड़े-बड़े ऋषियों तथा महापुरुषों ने, ब्रह्मा तथा शिव ने, भगवान् कृष्ण की अनेक प्रकार से स्तुतियाँ की हैं। भगवान् कृष्ण *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहलाते हैं (*भागवत* ११.५.३३)। *शिव* अर्थात्, भगवान् शिव तथा *विरिञ्चि* अर्थात् ब्रह्मा। ये दोनों देवता भगवान् वासुदेव कृष्ण की स्तुति करते रहते हैं। यदि हम इन महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलें और भगवान् कृष्ण के भक्त बन सकें तो हमारा जीवन सार्थक हो जाये। दुर्भाग्यवश लोग इस रहस्य को नहीं जानते। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—"वे नहीं जानते कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन तथा परम सिद्धि भगवान् विष्णु (कृष्ण) की पूजा है (*भागवत* ७.५.३१)। माया से समझौता करके प्रसन्न रहना असम्भव है। श्रीकृष्ण का भक्त बने बिना मनुष्य केवल दिग्भ्रमित तथा कुंठित बन सकता है। जीवों को इस विपदा से बचाने के लिए ही *भगवद्गीता* (७.१९) में भगवान् कृष्ण ने संकेत किया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद ज्ञानी मनुष्य भली भाँति यह जानते हुए कि वासुदेव रूप में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी शरण में आ जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

वासुदेव के भक्त बनकर हम जो चाहे वही वर प्राप्त कर सकते हैं।

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—समस्त उपलब्धियों का; इह—इस संसार में; सर्वेषाम्—प्रत्येक पुरुष का; ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयसम्—परम लाभ; परम्—दिव्य; सुखम्—सुख; तरति—लाँघ जाता है; दुष्पारम्—दुस्तर; ज्ञान—ज्ञान रूपी; नौः—नाव; व्यसन—खतरा; अर्णवम्—समुद्र।

इस संसार में उपलब्धि के अनेक प्रकार हैं, किन्तु इन सबों में ज्ञान की उपलब्धि सर्वोपरि मानी जाती है, क्योंकि ज्ञान की नौका में आरूढ़ होकर ही अज्ञान के सागर को पार किया जा सकता है। अन्यथा यह सागर दुस्तर है।

तात्पर्य : वास्तव में इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान के कारण कष्ट उठा रहा है। प्रतिदिन यह देखने में आता है कि ज्ञानहीन मनुष्य किसी तरह का आपराधिक कृत्य कर बैठता है और बाद में पकड़ा जाता है और दण्डित होता है। जब कि उसे अपने इस पापकर्म का बोध नहीं रहा होता है। ऐसा अज्ञान संसार-भर में पाया जाता है। लोग यह समझ ही नहीं पाते कि अवैध कामी आदत से वे अपने जीवन को संकट में डाल रहे हैं, अपने स्वाद के लिए पशुओं को मारते हैं और मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में मस्त रहते हैं। यह अत्यन्त शोचनीय है कि संसार के नेता इन पापकर्मों के प्रभावों को नहीं जानते। बजाय इसके वे सारी घटनाओं को सहज भाव से लेते हुए अज्ञान सागर को और चौड़ा बनाने में सफल होते जाते हैं।

ऐसे अज्ञान के विपरीत इस भौतिक संसार में पूर्णज्ञान महानतम उपलब्धि है। व्यावहारिक जीवन में हम देख सकते हैं कि ज्ञानवान् व्यक्ति जीवन के अनेक खतरनाक उतार चड़ावों से बच जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—"जब मनुष्य वास्तव में ज्ञानवान बन जाता है, तो वह परमात्मा की शरण में जाता है।" *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—"ऐसा महापुरुष विरले ही पाया जाता है।"

यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन उन तथाकथित नेताओं की आँखें खोलने के लिए कृत्यसंकल्प है, जो अज्ञान से भरे हुए हैं और इस प्रकार उन्हें जीवन के अनेक उतार-चड़ावों तथा घातक परिस्थितियों से बचाता है। सबसे बड़ा खतरा है मनुष्य से निम्नतर योनि को प्राप्त होना। इस मनुष्य देह को बड़ी ही कठिनाई से इसीलिए प्राप्त किया गया जिससे इसका लाभ उठाकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। शिवजी उपदेश देते हैं कि जो उनके स्तोत्र का लाभ उठायेंगे वे शीघ्र ही भगवान् के भक्त बनेंगे और अज्ञान सागर को पार करने तथा जीवन को पूर्ण बनाने

में समर्थ हो सकेंगे।

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इमम्—यह; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—अनुरक्तिपूर्वक; मत्-गीतम्—मेरे द्वारा रचित गीत या मेरे द्वारा गाया गीत; भगवत्-स्तवम्—भगवान् की प्रार्थना; अधीयानः—नियमित पाठ द्वारा; दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; हरिम्—भगवान् को; आराधयति—किन्तु पूजा कर सकता है; असौ—ऐसा मनुष्य।

यद्यपि भगवान् की भक्ति करना एवं उनकी पूजा करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई मेरे द्वारा रचित एवं गाये गये इस स्तोत्र का केवल पाठ करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : यह विशेष तौर पर महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी भगवान् वासुदेव के शुद्ध भक्त हैं। *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—"समस्त वैष्णवों में शिवजी सर्वोच्च हैं।" फलतः शिवजी का एक वैष्णव शिष्य परम्परा का सम्प्रदाय चला आया है, जिसे रुद्र-सम्प्रदाय कहते हैं। इस समय जो वैष्णवों का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय है, वह रुद्र या शिव से सम्बन्धित है। भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त होना अत्यन्त कठिन है। इसी लिए *दुराराध्यम्* शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। देवताओं की पूजा उतनी कठिन नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त बनना इतना आसान नहीं है। यदि कोई महापुरुषों के आदर्शों तथा उनके पदचिह्नों पर चले तो वह सरलता से भगवान् वासुदेव का भक्त बन सकता है, जैसाकि शिवजी ने उपदेश दिया है। प्रह्लाद महाराज द्वारा भी इसकी पुष्टि हुई है। भक्ति का अभ्यास मनोधर्मियों के द्वारा सम्भव नहीं। भक्ति एक विशेष उपलब्धि है, जिसे वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण की है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने पुष्टि की है—*महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्*—"जब तक सभी प्रकार के भौतिक दोषों से मुक्त शुद्ध भक्त के चरणकमलों की धूल को धारण नहीं की जाती, तब तक भगवान् की भक्ति में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता।" (*भागवत* ७.५.३२)।

विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

विन्दते—प्राप्त करता है; पुरुषः—भक्त; अमुष्मात्—भगवान् से; यत् यत्—जो जो; इच्छति—कामना करता है; असत्वरम्—स्थिर होकर; मत्-गीत—मेरे द्वारा गाया हुआ; गीतात्—गीत से; सु-प्रीतात्—भगवान् से, जो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं; श्रेयसाम्—समस्त आशीर्वादों (वर) में से; एक—एक; वल्लभात्—प्रियतम से।.

समस्त शुभ आशीर्वादों में से सर्वप्रिय वस्तु भगवान् हैं। जो मनुष्य मेरे द्वारा गाये गये इस गीत को गाता है, वह भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। ऐसा भक्त भगवान् की भक्ति में स्थिर होकर परमेश्वर से मनवाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—यदि किसी को भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाये तो उसमें किसी प्रकार की आकांक्षा या इच्छा शेष नहीं रहती। जब ध्रुव महाराज तप के द्वारा पूर्ण बन गये और जब उन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया तो उनसे मनवांछित वर माँगने को कहा गया, किन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि मैं भगवान् के दर्शन प्राप्त करने से ही सन्तुष्ट हूँ। भगवान् की सेवा के अतिरिक्त हम जो कुछ भी माँगते हैं वह माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* २०.१०८)। प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का शाश्वत दास है, अत: जब कोई भगवान् की भक्ति में लग जाता है, तो उसे जीवन की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है। आज्ञाकारी दास अपने स्वामी के अनुग्रह से किसी भी इच्छा की पूर्ति कर सकता है और जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा लेता है, उसे तो और कुछ भी नहीं चाहिए। उसकी सारी इच्छाओं की पूर्ति भगवान् की निरन्तर सेवा करने में ही हो जाती है। शिवजी हमें बताते हैं कि यदि कोई भी भक्त उनके द्वारा सुनाई गई स्तुति का जप करता है, तो वह सफल हो सकता है।

इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह स्तुति; यः—जो भक्त; कल्ये—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अन्वितः—लीन रहकर; शृणुयात्—स्वयं जपता तथा सुनता है; श्रावयेत्—तथा सुनाता है; मर्त्यः—ऐसा मनुष्य; मुच्यते—मुक्त हो जाता है; कर्म-बन्धनैः—सकाम कर्मों से उत्पन्न सभी प्रकार के कर्म बन्धनों से।.

जो भक्त प्रातःकाल उठकर हाथ जोड़कर शिवजी के द्वारा गाई गई इस स्तुति का जप करता

है और अन्यों को सुनाता है, वह निश्चय ही समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : मुक्ति का अर्थ है सकाम कर्मों के फल से मुक्त होना। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में आया है—*मुक्तिः हित्वान्यथारूपम्।* मुक्ति का अर्थ है अन्य सभी कार्यों का परित्याग और अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हो जाना (*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*)। इस बद्ध अवस्था में हम एक के बाद दूसरे सकाम कर्म में उलझे रहते हैं। कर्म-बन्धन का अर्थ है "सकाम कर्म का बन्धन।" जब तक मनुष्य का मन सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे सुखी रहने की योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। किन्तु भक्तियोग सर्वथा भिन्न है। इसमें तो परम सत्य के आदेशानुसार कार्य करना होता है। जब हम किसी परम सत्ता के निर्देशानुसार कर्म करते हैं, तो हम कर्मफलों से नहीं बँधते। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने इसलिए युद्ध किया, क्योंकि भगवान् चाहते थे, अतः युद्ध के परिणाम के लिए अर्जुन जिम्मेदार न था। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है श्रवण तथा कीर्तन भी उतना ही अच्छा है जितना कि शरीर, मन तथा इन्द्रियों से कर्म करना। वास्तव में, श्रवण तथा कीर्तन भी इन्द्रियों के कर्म ही हैं। जब इन्द्रियों का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, तो वे मनुष्य को कर्म में फँसा देती हैं, किन्तु जब उनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, तो वे उसे भक्ति में स्थापित कर देती हैं।

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महत्
चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

गीतम्—गाया गया; मया—मेरे द्वारा; इदम्—यह; नरदेव-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; परस्य—परमेश्वर का; पुंसः—भगवान्; परम-आत्मनः—प्रत्येक का परमात्मा; स्तवम्—प्रार्थना, स्तोत्र; जपन्तः—जप करते हुए; एक-अग्र—पूर्ण मनोयोग से; धियः—बुद्धि; तपः—तपस्या; महत्—महान; चरध्वम्—तुम अभ्यास करो; अन्ते—अन्त में; ततः—तत्पश्चात्; आप्स्यथ—प्राप्त करोगे; ईप्सितम्—अभीष्ट, वांछित फल।

हे राजकुमारो, मैंने तुम्हें जो स्तुति गाकर सुनाई वह परमात्मा स्वरूप भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त थी। मैं तुम्हें इस स्तुति को गाने की सलाह देता हूँ, क्योंकि यह बड़ी-से-बड़ी तपस्या के समान प्रभावशाली है। इस प्रकार जब तुम सब परिपक्व हो जाओगे तो तुम्हारा जीवन सफल होगा और तुम्हें सारे अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हो सकेंगे।

तात्पर्य : यदि हम अध्यवसायपूर्वक भक्ति करते रहें तो निश्चित रूप से समय आने पर हमारी सारी इच्छाएँ पूरी होंगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''शिव द्वारा की गई स्तुति का गान'' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*